मैंने कहा

लेखक की अन्य रचनाएँ

अजी सुनो

पृष्ठ १७४ (दूसरा संस्करण) मूल्य रु० ५.००

हिन्दी-साहित्य में व्यासजी को 'हास्य रसावतार' कहा जाता है। हिन्दी कविता में शिष्ट हास्य की परम्परा के जन्मदाता व्यासजी ही हैं। उनका हास्य पारिवारिक होता है। कवि की पत्नी 'लल्लो की बीबी' के रूप में आज भारत के घर-घर में प्रसिद्ध है। 'अजी सुनो' में व्यासजी की पुरानी सभी प्रसिद्ध कविताओं का संग्रह है। ये रचनाएँ कराची से कलकत्ते और काश्मीर से कन्याकुमारी तक जनता के दिलों में घर किए हुए हैं।

कदम-कदम बढ़ाए जा

पृष्ठ ६४ (तीसरा संस्करण) मूल्य रु० १ ५

व्यासजी व्यंग्य विनोद ही नहीं लिखते, उनमें वीर रस लिखने की भी अद्भुत क्षमता है। प्रस्तुत पुस्तक में ओजपूर्ण भाषा में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के स्वतन्त्रता-संग्राम का पराक्रमपूर्ण ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी में यह वीर रस पूर्ण खण्ड-काव्य अपनी परम्परा में एकदम मौलिक और राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत है।

हमारे राष्ट्रपिता

पृष्ठ १३६ (दूसरा संस्करण) मूल्य रु० २ ०

यों गांधीजी पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं लेकिन उनके जीवन और दर्शन को एक ही जगह संक्षेप में आकर्षक कवि-वाणी से व्यक्त करनेवाली यह प्रथम प्रामाणिक पुस्तक है। इस पुस्तक की सराहना सबने मुक्तकण्ठ से की है। आचार्य विनोबा भावे ने स्वयं इसकी भूमिका लिखी है और राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टंडन ने इसके 'दो शब्द' लिखे हैं।

गांधी-चरित

पृष्ठ ३२ मूल्य रु० ० ५०

बालकों और प्रौढ़ों के लिए सरल और रोचक भाषा में मोटे टाइप में गांधीजी की यह प्रामाणिक जीवनी बाल-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है।



आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६



लेखक व्यंग-चित्रकार की दृष्टि में

मैं ने कहा…

विविध, सामाजिक एवं चुभते हुए साहित्यिक और राजनैतिक व्यंग-विनोदों से परिपूर्ण सोलह मौलिक निबन्धों का सचित्र संग्रह

लेखक
गोपालप्रसाद व्यास

व्यंग्य-चित्र
श्री मनचर मजूमदार



१९५८
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट
दिल्ली ६

द्वितीय संस्करण १९५८
मूल्य रु० ५.००

मुद्रक
यूनीक प्रेस
चावड़ी बाजार
दिल्ली ६

तो, मैंने कहा

मेरा जन्म वहाँ (परासौली-मथुरा में) हुआ, जहाँ महाकवि महात्मा सूरदास ने हिन्दी का महाकाव्य 'सूरसागर' रचा, मेरी जन्म तिथि (माघ शुक्ला दशमी) भी वह थी, जिस दिन छायावाद के प्रवर्तक महानाटककार प्रसादजी ने जन्म लिया और संवत् १६७२ को ईस्वी सनों में फैलाइए तो ज्ञात होगा कि इतिहास में उस महान वर्ष का कितना महत्त्व है !

मेरी जीजी (माताजी) कहा करती थीं कि जब मैं गर्भ में ही था, तब एक महात्मा उनके द्वार पर आए थे और कह गए थे कि तेरा यह बालक बड़ा 'प्रतापी' होगा।

भगवान श्री कृष्ण की तरह जब सात वर्ष का हुआ तो गोवर्द्धन पर्वत की तलहटी छोड़कर मथुरा आ गया।

पढ़ाई के दर्जे तो कुल ७' ही पास किये, लेकिन तैरने, कुश्ती लड़ने, लाठी चलाने, चौपड़ खेलने और बाद में कवित्त-सवैये पढ़ने में आस पास काफी नाम कमा लिया। पिताजी की इच्छा के अनुसार कम-से-कम 'मैट्रिक' भी पास न कर सका तो क्या, कबड्डियों के बड़े-बड़े पाले जीत लिये और रामलीला में सीता, लक्ष्मण और राम के अभिनय कर करके मथुरावासियों से वर्षों तक हाथ जुड़वाता रहा, शीश झुकवाता रहा और जय-जयकार करवाता रहा।

रोजी ८ रुपए महीने की कम्पोजीटरी से प्रारम्भ की। मशीनों में स्याही भी दी और कागज भी लगाया। सत्यनारायण की कथा भी बाँची, कुँजियाँ भी लिखीं और ट्यूशन से लेकर साधुक प्रवचन भी किए।

आगरा में जब पागलखाना बन निकला तो मैं भी वहाँ पहुँचा और वहाँ के मासिक 'साहित्य-सन्देश' से अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया।

'भारत छोड़ो' आन्दोलन के साथ-साथ मुझे भी आगरा छोड़ना पड़ा। तब कुछ महीने इटावा रहा। इटावा में जमकर गायत्री मंत्र का जाप किया; महाभारत, वाल्मीकि रामायण और श्रीमद्भागवत के पारायण किये। महाकवि देव की इस नगरी में ही कविता मुझ पर प्रसन्न हुई। हास्यरस यहीं से जमा।

ये हास्य रस की रचनाएँ ही मुझे 'दिल्ली चलो' आन्दोलन के ज़माने में दिल्ली ले आईं। इनकी ही बदौलत एक कम्पोज़ीटर ('टूप' ही सही) 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक बना।

पद्य में हास्यरस की कविताएँ लिखीं वे 'अजी सुनो' में संगृहीत हैं। गद्य में जो व्यंग्य-विनोद लिखा, वह इस पुस्तक के रूप में आपके सामने है।

इस प्रकार, अगर कोई दुर्घटना नहीं हुई तो अवश्य मेरे सब बड़े 'मदारी' बनने के ही हैं, आगे मर्ज़ी भगवान की।

बस, इसके सिवाय भूमिका में मुझे और कुछ नहीं कहना। व्यक्ति का परिचय मैंने दे दिया, कृति आपके सामने है।

'हिन्दुस्तान', नई दिल्ली —गोपालप्रसाद व्यास

दूसरे संस्करण के सम्बन्ध में

डेढ़ साल बाद जब इस संग्रह की रचनाओं को मैंने फिर से पढ़ा तो मुझे इसकी भाषा कहीं-कहीं कुछ ढीली-ढाली नज़र आई। वाक्यों में अनावश्यक शब्द भी दिखाई दिए। कहीं कहीं विचारों में भी कसावट की कमी महसूस हुई। तटस्थ सम्पादक की तरह शैली का निर्वाह करते हुए, मैंने भाषा और भाव का यह परिमार्जन इस बार जहाँ-तहाँ कर दिया है।

एक कार्टून भी बदला। चार नये और जोड़े। भाई रवीन्द्र ने मेरा भी एक कार्टून बना डाला। ये सब इस संस्करण में जोड़ दिए हैं।

इस संग्रह में 'स्वतन्त्र कश्मीरवाद' नाम से एक नया निबन्ध और भी जोड़ा है। यह लेख सन् ५१ के प्रथम आम चुनाव के समय लिखा गया था। इस प्रकार '५१ तक के मेरे सभी विनोदपूर्ण निबन्ध इस संग्रह में आगए हैं।

१०१४, विस्लोमन कालोनी
चाँदनी चौक दिल्ली —गोपालप्रसाद व्यास

१।११।५०

क्रम

विषय	पृष्ठ
१ मूड-बराबर तप नहीं	१
२. मेरी पत्नी भली तो है, लेकिन	७
३ 'उन'के साथ बाजार जाना	१५
४ मकान नहीं मिला	२३
५. मेहमान से भगवान बचाए	३१
६ नौकर के मारे	३७
७ एक नया धन्धा	४५
८ बस की सवारी	५३
९. दफ्तर की दुनिया	५९
१० हिन्दी के आलोचकों	६५
११ खुशामद भी एक कला है	७१
१२. मलेरिया महाराज	८१
१३ मुसीबत है	८७
१४ साहित्य का उद्देश्य	९१
१५. पत्रकार की पहचान	९९
१६ स्वतन्त्र उम्मीदवार	१०७

१

झूठ बराबर तप नहीं

"शास्त्रों में लिखा है कि जब तक जान जाने का खतरा न हो, तब तक झूठ नहीं बोलनी चाहिए। मगर नई दुनिया का शास्त्र मुझे बनाने को कहा जाय तो उसका पहला वाक्य यह हो— 'सच तभी बोलना चाहिए, जब कि जान जाती हो।'"

झूठ बोले और पकड़े गए तो धिक्कार है ऐसे दांत घिसने पर! झूठ बोलने का मजा तो यह है, होशियारी तो इसमें है कि झूठ बोलो मगर झूठ न दिखाई दे।

आप झूठ बोलिए और फिर बोलिए, लेकिन भाई मेरे, तनिक सफाई के साथ! इसीको दुनियादारी कहते हैं, इसीमें सफलता छिपी है।"

आपका पता नहीं, मैंने तो अपना यह सिद्धान्त बना रखा है कि—

झूठ बराबर तप नहीं, साँच बराबर पाप।
जाके हिरदे झूठ है, ताके हिरदे आप॥

और यक़ीन मानिए अपने इसी सुनहरे सिद्धान्त की बदौलत दिन-पर दिन गोल हुआ जाता हूँ और नज़र न लग जाए किसीकी, बस, सब तरह से पौ-बारह ही हैं।

झूठ बोलने का बड़ा महात्म्य है। अगर आप आज के वैज्ञानिक तरीके से झूठ बोलना सीख जायें तो विश्वास कीजिए कि फिर ज़िन्दगी में आपको कभी मायूस रहने की ज़रूरत नहीं पड़े। शर्त लगाकर कह सकता हूँ कि चन्द दिनों की ही कसरत के बाद आपके पास ठाठदार बँगला, शानदार मोटर, चहकता हुआ रेडियो मुस्कराता हुआ घरवाली यदि ख़ुद न आजाए, तो क़सम आपकी मैं आज से ही झूठ बोलना छोड़ सकता हूँ।

झूठ कौन नहीं बोलता? हमारे पवित्र शास्त्रों में लिखा हुआ है कि यह सारा संसार ही मिथ्या है। माता-पिता स्त्री, पुत्र-कलत्र सब रिश्ते झूठे हैं। जग-व्यवहार सब मिथ्याचार है। दो-चार सन्त फ़क़ीर और गांधी-महात्माओं को छोड़ दीजिए, दुनिया में इनका होना-न-होना हम झूठों के प्रचण्ड बहुमत में कोई अर्थ नहीं रखता। मेरा तो दावा है कि झूठ और सच की बिना पर अगर इस देश में चुनाव लड़ लिए जाएँ तो हिन्दुस्तान की एक भी सीट पर कांग्रेसियों का अधिकार नहीं रह सकता। हिन्दुस्तान क्या सारी दुनिया में हम झूठों का ही सिक्का चलता है और वह दिन दूर नहीं जब धरती के एक छोर से लेकर दूसरे तक हर जगह हमारी मज़बूत सरकारें क़ायम हो जायेंगी।



"फिर मैं बोली 'उसमें [illegible] अस्पताल में ता मैं साथ मुसाफ़िर भी कभी मन नहीं खोलता।" (पृष्ठ ९)

दर असल, दुनिया में और है भी क्या ? खाने को तीन छटाँक गेहूँ पहनने को तीन गज कपड़ा और बोलने को जी-भर झूठ ! राशन और कन्ट्रोल के इस पिछले जमाने में अगर कहीं झूठ भी चोरबाजार में चली गई होती तो झूठ न मानिए, दुनिया से ९९ प्रतिशत आदमी उठ गए होते।

दुनिया का दस्तूर ही ऐसा है कि बिना झूठ के आपकी गाड़ी आगे बढ़ ही नहीं सकती। जिस तरह चटनी के बिना भोजन में स्वाद नहीं आता, रूप के बिना यौवन किरकिरा होता है, इश्क के बिना शायरी फीकी लगती है उसी तरह बिना झूठ के भी जिन्दगी कोई जिन्दगी है ?

शास्त्रों में लिखा है कि जब तक जान का खतरा न हो तब तक झूठ नहीं बोलनी चाहिए। अगर नई दुनिया का शास्त्र मुझे बनाने को कहा जाए तो उसका पहला वाक्य यह हो—"सच तभी बोलना चाहिए, जब कि जान जाती हो।"

यह बिलकुल झूठ बात है कि पहले जमाने में झूठ बोलने वाले मर जाया करते थे। कम-बढ़ में ४५ साल का हो गया हूँ तब से हजारों क्या, लाखों बार झूठ बोलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, पर क्या मजाल, मरें तो मेरे दुश्मन, यहाँ तो सर में दर्द तक नहीं हुआ ! सिर्फ आपसे कहता हूँ कि बाहर की तो क्या चली, घर में, यानी 'उन'से, मतलब अपने लड़के की जन्मदातृ से तो शायद भूल कर भी कभी सच नहीं बोलता, लेकिन इस पर भी दावा यह है कि आज तक किसीने मुझे सरेआम झूठा बताने का हौंसला नहीं किया।

झूठ बोले और पकड़े गए तो धिक्कार है ऐसे दाँत घिसने पर ! झूठ बोलने का मजा तो यह है, होशियारी तो इसमें है कि झूठ बोलो, मगर झूठ न दिखलाई दे।

आप झूठ बोलिए और फिर बोलिए, लेकिन भाई मेरे, तनिक सफ़ाई के साथ ! इसीको दुनियादारी कहते हैं इसीमें सफलता छिपी है।

झूठ बोलना भी एक कला है—एक महान आर्ट ! इसकी महा नता के आगे चित्रकारी के रंग फीके हैं, संगीत का स्वर बेसुरा है और कविता के छन्द निरर्थक हैं ।

लोग कहते हैं कि जिसने सत्य को पा लिया उसने परमेश्वर को पा लिया । एकदम गलत । बात सही यह है कि जिसने झूठ को पा लिया उसे कुछ और पाना शेष ही नहीं रहा !

झूठ परम तत्त्व है । यह अजरामर है । सनातन है । निर्विकल्प है । सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है । यद्यपि यह भेदाभेद से परे है फिर भी अभ्यास या साधना के लिए मैंने इसके कुछ भेद किये हैं जैसे—(१) शुद्ध झूठ (२) अशुद्ध झूठ (३) सफेद झूठ (४) बे-सिर-पैर की, (५) गप्पगप्प (६) गप्प और (७) चारसौबीसी । देशकाल अवस्था और समय-संयोग के अनुसार इनके फिर सैकड़ों प्रकार होते हैं । स्थान-संकोच से उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता । फिर इस विषय पर हिन्दुस्तान के ३३ करोड़ देवी-देवता घर-घर में नित्य नये अनुसंधान कर रहे हैं, इसलिए अभी से इस शास्त्र को लिपिबद्ध करना ठीक नहीं । ऐसा करना इसकी बढ़ती को रोक देना है ।

मेरा मत है कि आजकल बिना झूठ के यह शरीर रूपी गाड़ी जीवन रूपी दलदल को पार नहीं कर सकती । उदाहरण चाहिए ? तो मान लीजिए कि आप किसी दफ्तर में बाबू हैं । बाबू भी ऐसे कि नेकनीयती में सबूत में फाइलों पर झुकते-झुकते आपकी गर्दन खम आ गई है । लेकिन आपको चाहिए चार दिन की छुट्टी । निहायत जरूरी काम आ पड़ा है । काम भी ऐसा नहीं कि जिसे टाला जा सके । आपकी पत्नी के भाई के लड़के को जुकाम हुआ है । वह बेचारा हरदम छींकता रहता है । आपकी 'उन'के भाई-भावज सब परेशान हैं । उनके मैके से आने वाले खत अक्सर छींकों से भरे रहते हैं । पत्नी का कहना है कि इस हालत में अगर 'हम' बच्चे को देखने नहीं गए तो रिश्तेदारी में नाक कट जाएगी ।

आदमी को अपनी नाक का खयाल नहीं तो वह आदमी नहीं !

लेकिन आदमियत के इस सच्चे मसले को आप अपनी मर्जी में मिला कर बड़े बाबू को भेज तो दीजिए ? सत्य बोलने का आजन्म आधार हो सकता है मगर अर्जी इस जन्म में तो क्या अगले सात जन्मों में भी मन्जूर होकर आजाए।

एसी जगह पर आपको फन खेलना ही पड़ेगा। जैसा कि अक्सर मैं और मेरे साथी बाबू किया करते हैं पड़ौसी डाक्टर की जेब में दो रुपए का एक बिना दस्तखती नोट चुपके से डालते हुए कहा जाए— 'डियर डाक्टर, एक सार्टीफिकेट तो बना दो। डाक्टर भी इस फन में कम होशियार न निकलेगा। वह लिखेगा ऐसा मालूम होता है कि बाबू को जोर से सर्दी का 'अटेक' हुआ है। दोनों फेफड़े भरे हैं। परहेज इलाज और एक सप्ताह के आराम की सख्त जरूरत है।

लीजिए आपने मैदान मार लिया। दुअन्नी किसी लड़के को देकर अर्जी को दफ्तर रवाना कीजिए और आप ससुराल का टिकट कटाइए। अगर ससुराल का पानी लग जाय और 'श्वसुर-गृह निवासं स्वर्ग-तुल्य नृणाणाम्' उक्ति सही साबित हो तो दो रुपए डाक्टर के नाम और सही। फिर लगाइए एक और सप्ताह का गोता। कोई पनडुब्बी भी आपको नहीं खोज सकती और कोई अक्ल का कच्चा यानी सच्चा इस महान् सच को झूठ नहीं सिद्ध कर सकता।

मेरे अपने साथ घटी एक घटना लीजिए। पिछले जून के महीने में जब मैं बच्चों के साथ घर से वापस दिल्ली लौट रहा था तो मुझसे भी ज्यादा किसी होशियार ने मेरी जेब से मनीबेग साफ कर दिया। टिकट रुपए सब-कुछ उसीमें थे। नई दिल्ली स्टेशन पर उतरा तो होश फ़ाख्ता! कुली सामान लेकर गेट की ओर चल रहा था बीबी-बच्चे दिल्ली लौट आने से खुश थे पर मेरी अँगुलियाँ जेबों को कुरेद रही थीं और चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं कि हाय राम अब क्या होगा ?

दो-तीन मिनट इसी ग़म में डूबा रहा कि टिकट का चार्ज तो

झूठ बोलना भी एक कला है—एक महान आर्ट ! इसकी महानता के आगे चित्रकारी के रंग फीके हैं, संगीत का स्वर बेसुरा है और कविता के छन्द निरर्थक हैं।

लोग कहते हैं कि जिसने सत्य को पा लिया उसने परमेश्वर को पा लिया। एकदम गलत। बात सही यह है कि जिसने झूठ को पा लिया उसे कुछ और पाना शेष ही नहीं रहा !

झूठ परम तत्त्व है। यह अजरामर है। सनातन है। निर्विकल्प है। सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। यद्यपि यह भेदाभेद से परे है फिर भी अभ्यास या साधना के लिए मैंने इसके कुछ भेद किये हैं, जैसे—(१) शुद्ध झूठ (२) अशुद्ध झूठ (३) सफेद झूठ, (४) बे-सिर-पैर की, (५) मनगढ़न्त, (६) गप्प और (७) चारसौबीसी। देशकाल अवस्था और समय-संयोग के अनुसार इनके फिर सैकड़ों प्रकार होते हैं। स्थान-संकोच से उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। फिर इस विषय पर हिन्दुस्तान के ३३ करोड़ देवी-देवता घर-घर में नित्य नये अनुसंधान कर रहे हैं, इसलिए अभी से इस शास्त्र को लिपिबद्ध करना ठीक नहीं। ऐसा करना इसकी बढ़ती को रोक देना है।

मेरा मत है कि आजकल बिना झूठ के यह शरीर रूपी गाड़ी जीवन रूपी दलदल को पार नहीं कर सकती। उदाहरण चाहिए ? तो मान लीजिए कि आप किसी दफ्तर में बाबू हैं। बाबू भी ऐसे कि नेकनीयती के सबूत में फाइलों पर झुकते-झुकते आपकी गर्दन खम खा गई है। लेकिन आपको चाहिए चार दिन की छुट्टी। निहायत जरूरी काम आ पड़ा है। काम भी ऐसा नहीं कि जिसे टाला जा सके। आपकी पत्नी के भाई के लड़के को जुकाम हुआ है। वह बेचारा हरदम छींकता रहता है। आपकी 'उन'के भाई साहब सब परेशान हैं। उनके मैके से आने वाले खत अक्सर छींकों से भरे रहते हैं। पत्नी का कहना है कि इस हालत में अगर 'हम' बच्चे को देखने नहीं गए तो रिश्तेदारी में नाक कट जाएगी।

आदमी को अपनी नाक का खयाल नहीं तो वह आदमी नहीं !

लेकिन आदमियत के इस सच्चे मसले को आप अपनी अर्जी में लिख कर बड़े बाबू को मना तो देखिए ? सत्य बोलने को आसन्न लाचार हो सकता है मगर अर्जी इस जन्म में तो क्या अगले सात जन्मों में भी मन्जूर होकर आजाए।

एसी जगह पर आपको फन खेलना ही पड़ेगा। जैसा कि अक्सर मैं और मेरे साथी बाबू किया करते हैं पड़ोसी डाक्टर की जेब में दो रुपए का एक बिना दस्तखतों नोट चुपके से डालते हुए कहा जाए— डियर डाक्टर, एक सार्टीफिकेट तो बना दो। डाक्टर भी इस फन में कम होशियार न निकलेगा। वह लिखेगा ऐसा मालूम होता है कि बाबू को जोर से सर्दी का 'अटैक' हुआ है। दोनों फेफड़े भरे हैं। परहेज इलाज और एक सप्ताह के आराम की सख्त जरूरत है।

लीजिए आपने मैदान मार लिया। दुअन्नी किसी लड़के को देकर अर्जी को दफ्तर रवाना कीजिए और आप ससुराल का टिकट कटाइए। अगर ससुराल का पानी लग जाए और 'श्वसुर-गृह निवास स्वर्ग-तुल्य नृणानाम्' उक्ति सही साबित हो तो दो रुपए डाक्टर के नाम और सही। फिर लगाइए एक और सप्ताह का गोता। कोई पनडुब्बी भी आपको नहीं खोज सकती और कोई अक्ल का कच्चा यानी सच्चा इस महान् सच को झूठ नहीं सिद्ध कर सकता।

मेरे अपने साथ घटी एक घटना लीजिए। पिछले जून के महीने में जब मैं बच्चों के साथ घर से वापस दिल्ली लौट रहा था तो मुझसे भी ज्यादा किसी होशियार ने मेरी जेब से मनीबेग साफ कर दिया। टिकट रुपए सब-कुछ उसीमें थे। नई दिल्ली स्टेशन पर उतरा तो होश फाख्ता! कुली सामान लेकर गेट की ओर बढ़ रहा था बीबी-बच्चे दिल्ली लौट आने से खुश थे पर मेरी अंगुलियां जेबों को कुरेद रही थीं और चेहरे पर हवाइयां उड़ रही थीं कि हाय राम अब क्या होगा ?

दो-तीन मिनट इसी भ्रम में डूबा रहा कि

झूठ बोलना भी एक कला है—एक महान आर्ट ! इसकी महानता के आगे चित्रकारी के रंग फीके हैं, संगीत का स्वर बेसुरा है और कविता के छन्द निरर्थक हैं।

लोग कहते हैं कि जिसने सत्य को पा लिया उसने परमेश्वर को पा लिया। एकदम गलत। बात सही यह है कि जिसने झूठ को पा लिया उसे कुछ और पाना शेष ही नहीं रहा !

झूठ परम सत्य है। यह अजरामर है। सनातन है। निर्विकल्प है। सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। यद्यपि यह भेदाभेद से परे है, फिर भी अभ्यास या साधना के लिए मैंने इसके कुछ भेद किये हैं जैसे—(१) शुद्ध झूठ, (२) अशुद्ध झूठ, (३) सफेद झूठ (४) बे-सिर-पैर की, (५) मनगढ़न्त, (६) गप्प और (७) चारसौबीसी। देशकाल अवस्था और समय-संयोग के अनुसार इनके फिर सैकड़ों प्रकार होते हैं। स्थान-संकोच से उनका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। फिर इस विषय पर हिन्दुस्तान के ३३ करोड़ देवी-देवता घर-घर में नित्य नये अनुसंधान कर रहे हैं, इसलिए अभी से इस शास्त्र को लिपिबद्ध करना ठीक नहीं। ऐसा करना इसकी बढ़ती को रोक देना है।

मेरा मत है कि आजकल बिना झूठ के यह शरीर रूपी गाड़ी जीवन रूपी दलदल को पार नहीं कर सकती। उदाहरण चाहिए ? तो मान लीजिए कि आप किसी दफ्तर में बाबू हैं। बाबू भी ऐसे कि नेकनीयती के सबूत में फाइलों पर झुकते-झुकते आपकी गर्दन खम खा गई है। लेकिन आपको चाहिए चार दिन की छुट्टी। निहायत जरूरी काम आ पड़ा है। काम भी ऐसा नहीं कि जिसे टाला जा सके। आपकी पत्नी के भाई के लड़के को जुकाम हुआ है। वह बेचारा हरदम छींकता रहता है। आपकी 'उन'के भाई-भावज सब परेशान हैं। उनके मैके से आने वाले खत अक्सर छींटों से भरे रहते हैं। पत्नी का कहना है कि इस हालत में अगर 'हम' बच्चे को देखने नहीं गए तो रिश्तेदारी में नाक कट जाएगी।

आदमी को अपनी नाक का ख्याल नहीं तो वह आदमी नहीं !

लेकिन आदमियत के इस सुच्चे मसले को आप अपनी अर्जी में लिख कर बड़े बाबू को भेज तो दीजिए ? सत्य बोलने का आग्रह लाचार हो सकता है मगर अर्जी इस जन्म में तो क्या अगले सात जन्मों में भी मन्जूर होकर आ जाए।

ऐसी जगह पर आपको फ़न खेलना ही पड़ेगा। जैसा कि अक्सर मैं और मेरे साथी बाबू किया करते हैं पड़ोसी डाक्टर की जेब में दो रुपए का एक बिना दस्तख़तों नोट चुपके से डालते हुए कहा जाए— 'डियर डाक्टर, एक सार्टीफिकेट तो बना दो।' डाक्टर भी इस फ़न में कम होशियार न निकलेगा। वह लिखेगा 'ऐसा मालूम होता है कि बाबू को जोर से सर्दी का अटैक' हुआ है। दोनों फेफड़े भरे हैं। परहेज़, इलाज और एक सप्ताह के आराम की सख्त जरूरत है।

लीजिए आपने मैदान मार लिया। दुअन्नी किसी लड़के को देकर अर्जी को दफ़्तर रवाना कीजिए और आप ससुराल का टिकट कटाइए। अगर ससुराल का पानी लग जाय और 'श्वसुर-गृह निवासं स्वर्ग-तुल्य नृणानाम्' उक्ति सही साबित हो तो दो रुपए डाक्टर के नाम और सही। फिर लगाइए एक और सप्ताह का गोता। कोई पनडुब्बी भी आपको नहीं खोज सकती और कोई अक्ल का कच्चा यानी सच्चा इस महान् सच को झूठ नहीं सिद्ध कर सकता।

मेरे अपने साथ घटी एक घटना लीजिए। पिछले जून के महीने में जब मैं बच्चों के साथ घर से वापस दिल्ली लौट रहा था तो मुझसे भी ज्यादा किसी होशियार ने मेरी जेब से मनीबेग साफ कर दिया। टिकट रुपए सब-कुछ उसीमें थे। नई दिल्ली स्टेशन पर उतरा तो होश फ़ाख़्ता! कुली सामान लेकर गेट की ओर चल रहा था बीवी-बच्चे दिल्ली लौट आने से खुश थे पर मेरी अँगुलियाँ जेबों को कुरेद रही थीं और चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थी कि हाय राम अब क्या होगा ?

दो-तीन मिनट इसी ग़म में डूबा रहा कि टिकट का चार्ज तो

दूर इस कुली को भी आखिर क्या दिया जायगा ? लेकिन जिन्दगी भर जिस झूठ को गले लगाया था आखिर उसने उबार ही तो लिया ! मैं आगे-आगे हो लिया। गेट पर आकर टिकट कलक्टर को सुनाते हुए श्रीमतीजी से बा-अदब कहा 'आइए, इधर से आइए। क्यों भाईसाहब साथ में नहीं आए ? मुझे तार तो तुम्हारा मिल गया था, रास्ते में कोई तकलीफ तो नहीं हुई !

श्रीमतीजी यह रंग-ढंग देख कर पहले कुछ सकपकाईं तो लेकिन आखिरकार मुझ प्रमाणित असत्य भाषी की 'धर्मपत्नी' थीं ! फौरन सँभलकर मुझसे भी सवाई होकर बोलीं 'उनके कोर्ट में जरूरी मुकदमा था। कहने लगे—तार तो दे दिया है। स्टेशन पर जीजाजी आ ही आएँगे, चली जाओ। पर गाड़ी में आजकल बड़ी भीड़ रहती है। सैकिण्ड क्लास में भी आदमी का भुरता बन जाता है !

टिकिट कलक्टर बेचारा रौब में आगया। उसने समझा किसी जज की बहन है और मुझ कांग्रेसी एम० पी० को ब्याही है। टिकट माँगना तो दूर, वह अदब से एक तरफ खड़ा हो गया। जान बची और लाखों पाए।

मेरा ख्याल है कि अगर मैं सचाई से काम लेता तो कहीं का न रहता। यह झूठ बोलने का ही प्रताप था कि जान बच गई। इसीलिए तो कहता हूँ कि झूठ बराबर तप नहीं।

२

मेरी पत्नी भली तो हैं, लेकिन

“ वे लाखों से भली हैं, नेक हैं, सुशील हैं और उदार आदत वाली भी हैं, लेकिन तभी तक जब तक कि मैं उनकी समझ के दायरे के अन्दर बिना कान पूँछ हिलाए चलता रहता हूँ। अगर कहीं उनकी खींची हुई लक्ष्मण-रेखा (नहीं-नहीं पत्नी-रेखा) का अतिक्रमण करके मैं अपने ‘पत्नीव्रत धर्म’ से ज़रा भी डिगने लगता हूँ तो समझ लीजिए कि मेरी भी पुश्तैनी रियासत पर सरदार पटेल की नज़र पड़ी ! अब पड़ी !!”

किसी और की बात मैं नहीं जानता लेकिन मैं तो सचमुच अपनी पत्नी का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। यों जन्म मुझे अपनी मां से मिला, पालन-पोषण और संस्कार भी शायद उन्हींसे प्राप्त हुए होंगे पर इस बात को आज सबके सामने स्वीकार करने में मुझे जरा भी हिचक नहीं होती कि जहाँ तक मेरे आदमी बनने का प्रश्न है, वह मुझे मेरी 'बहूमाता' ने ही बनाया है। मैं उन्हीं का (बनाया) 'आदमी' हूँ।

'वे' न होतीं तो मैं आज कहीं का होता? आज उन्हींकी कृपा से मैं एक लम्बे चौड़े कुटुम्ब का जीजा और फैले-पूरे घने-बसे हुए एक मुहल्ले-भर को साला बनाने योग्य हुआ हूँ। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अगर मेरे पूज्य पिताजी ने मेरी शादी न करने का फैसला बिना मुझसे पूछे ही कर लिया होता तो कवि लेखक और पत्रकार बनना तो दूर, मैं तो स्वयं अपने बच्चों का पिता भी बनने से रह जाता! यह सब-कुछ उन्हींका प्रसाद है कि समाज में आज मेरे लिए भी पैर रखने को जगह है सोसाइटी में कभी-कभी मुझे भी सभ्य समझ लिया जाता है और सबसे बड़ी बात यह कि दिल्ली में रहने को एक टीन भी किसी क़दर किराए पर मिली हुई है।

क्या बात कहूँ मैं उनकी? भगवान हजारी उम्र करे, 'वे' सचमुच इतनी भली हैं कि जबसे हुजूर ने हमारे घर को रौनक-अफ्रोज फरमाया है, हमें तो सिर्फ़ आराम के करने को कुछ काम ही नहीं रह गया। झाड़ा-बुहारा घर, धुले-धुलाए कपड़े, पका-पकाया खाना, बिछी-बिछाई खाट और बिना मांगे पानी—अब आदमी को अनायास ही मिलने लगे तो उसे महाकवि पाव के शब्दों में "जहाँ छांडि देहिब बैकुण्ठा" नजर आने लगता है। हमारी क्लीन-शेव सूरत सजी-सजाई देह और कमीज़ के कपड़ों को देखकर मित्र लोग हैरान

होते हैं कि इस 'बछिया के ताऊ' में इतनी अक्ल कहाँ से आगई ? मगर उन्हें यह नहीं मालूम कि यह तो किसी और का ही वरद हस्त है जिसने हमारे ऊपर गिरने वाले गिरि गोवर्द्धन को यों अधर ही में थाम रखा है।

उनके श्री-चरणों का सुस्पर्श पाकर, सच कहूँ इस घर को दुनिया ही बदल गई है। घर के बरतन, कपड़े, फर्नीचर चित्र, किताबें—यह समझिए कि घूरे-से लगने वाले इस घर का सारे-का-सारा वातावरण ऐसे चमक उठा है, मानो मुँह से बात करने लगा हो ! अब हमें न तो रूमाल की खातिर सारी अलमारी उलट देनी पड़ती है और न कविता के कागजों की तलाश में ताक से लेकर कूड़े के कनस्तर तक की दौड़ ही लगानी होती है। हर एक चीज कायदे से, अपने समय पर, इस सफाई और सुन्दरता के साथ स्वयं होती चलती है कि हम तो अपनी 'होम गवर्नमेंट' की इस शासन कुशलता पर दंग रह जाते हैं। शादी से पहले जब हम इन्हें पसन्द करने गये थे (हालांकि यह हमारी हद दर्जे की बेवकूफी थी) तब सपने में भी यह ख़याल नहीं आया था कि इस सीधी-सादी दुबली पतली गऊ-सी लड़की में इतनी 'एडमिनिस्ट्रेटिव पावर' और ऐसे गुन भरे होंगे !

परन्तु, आप जानते हैं कि आदमी अपनी प्रकृति से बैल और कलाकार नाम का प्राणी वास्तव में बिलकुल बछड़े के समान होता है। दुर्भाग्य से वह कहीं हिन्दी का कवि भी हो तो बस, खैर नहीं। समझो कि करेला है और नीम चढ़ा ! इस बिना सींग के पशु को, यह समझिए, बन्धन जरा भी नहीं सुहाते। उसे घेर-घेरकर खूँटे की ओर लाइए, वह उछल-उछलकर उससे वैसे ही दूर भागता है जैसे 'महावीर विक्रम बजरंगी का नाम सुनते ही भूत भाग उठते हैं। यही हाल कुछ मेरा भी समझ लीजिए। वह घेर-घेर कर लाती हैं और मैं बिदक-बिदककर भाग खड़ा होता हूँ।

उन्होंने मेरे आठ पहर चौसठ घड़ी का एक निश्चित 'टाइम-

टेबुल' बना छोड़ा है कि ६ बजे उठो। और यह भी कोई बात है कि रोज नहाओ इस वक्त अखबार पढ़ो और इस वक्त चाय पियो। खाना ठीक साढ़े नौ बजे, फिर १५ मिनट का 'रैस्ट' और फिर सीधे चलो अपने काम पर! और देखो दफ्तर से ठीक ५॥ बजे न लौटे तो खैर नहीं। भूख हो या न हो आते ही नाश्ता, फिर गपशप, रेडियो और व्यायाम। खबरदार जो रात को ९ बजे बाद घर से बाहर पैर भी रखा तो! नींद आए न आए, घड़ी पर १० डिगरी का ऐंगिल बनते ही आँखें बन्द कर लेनी पड़ती हैं।

आप ही बताइए कि विषुवत रेखा की पूँछ से बचे इस धर्म देश में क्या कहीं रात को जल्दी सोया जा सकता है? या जब सुबह तड़के भीनी-भीनी ठंडी बयार बह रही हो तो कहीं उठने को दिल करता है? अपनी बात तो मैं कहूँ कि सुबह-सवेरे जब मैं तीन तीन तकियों को पांव, बगल और सिर के नीचे दबाए सोता हुआ जागता, या जागता हुआ सोता हूँ तब मेरे पास और की तो बात क्या, स्वयं नेहरूजी भी आयें और खुद अपने हाथों से मुझे उत्तर प्रदेश का गवर्नर बनने का निमन्त्रण भेंट करने लगें तो यकीन मानिए उस समय खटिया छोड़ने पर मैं किसी भी तरह राजी नहीं हो सकता। उस वक्त या तो मैं जवाब देना ही पसन्द नहीं करूँगा, मगर लाचारी से कुछ कहना ही पड़ा तो बिना आँखें खोले, यही कहूँगा—जाइए, जाइए महाशय, बाकी उम्र जेल में गुजारने वाले तुम इस सोना-सुख को क्या पहचानो? अरे 'सो सुख राज में न पाट में जो सुख पाए खाट में'! लेकिन आप जानते हैं कि नेहरूजी को नाराज करना आजकल आसान है, पर अपनी लड़की के भावी लड़के की, होने वाली नानी को नाराज करना हँसी-खेल नहीं। क्योंकि एक तो नेहरूजी आसानी से रूठने वाले नहीं और रूठे भी तो अधिक-से-अधिक एक अन्तर्राष्ट्रीय (इन्टरनेशनल) स्पीच दे देंगे। मगर ये जो हमारी दिन में ११ बार मेहर की तुरुप जमाने वाली हुलेसी हैं, यदि कहीं सवेरे-सवेरे रूठ गईं, तो समझ लीजिए, दिन

घर की खैर नहीं !

भगवान् झूठ न बोलवाए, पहले हम बहुत सच्चे और नेक आदमी थे। लेकिन अब उनकी रोज-रोज की सख्ती और समय की पाबन्दी ने नाहक हमें गुनाह करना और झूठ बोलना सिखा दिया है। आप ही कहिए कि दफ्तर से रोज़-रोज कहीं सीधे घर आया जाता है ? कभी कहीं जाने को मन करता है कभी कहीं। कभी रास्ते में यह मिल जाते हैं, कभी वह। क्लब गोष्ठी समाज और रेस्त्रां की तो बात ही छोड़िए। कभी-कभी तो सीधे घर जाने के बजाय कबड्डी या गिल्ली-डंडा खेलने को ही मन कर आता है। लेकिन एक हमारी 'वे' हैं कि हमें महीने में दो-चार दिन भी ऐसी छूट देने को तैयार नहीं। परिणाम यह है कि हमें आखिर अपनी सदा सहायक झूठ का ही सहारा लेना पड़ता है। कभी कहते हैं कि दफ्तर में काम अधिक था, कभी कहते हैं कि रास्ते में साइकिल पंचर हो गई और कभी कहना पड़ता है कि हे अम्मो की बीजी आज तो बस तुम्हारे ही पुण्य प्रताप से जीता बचा हूँ वरना वह 'एक्सीडेंट' हुआ होता कि इस वक्त तो हमारे कारनामे धर्मराज की अदालत में खुल रहे होते।

ऐसी बात नहीं कि स्वयं उनमें इन बातों को सोचने-समझने की अक्ल न हो। घर-बाहर पास-पड़ोस का जो भी उनसे मिलता है, उनकी सूक्ष्म बुद्धि की तारीफ करता नहीं अघाता। हमें भी उनके पीठ-पीछे यह मान लेने में कोई एतराज नहीं कि जहाँ तक तुलना का प्रश्न है, यह जो बुद्धि नाम की वस्तु है दर असल, उनके हिस्से में ईश्वर के पक्षपात से, हमसे अधिक ही आई है। लेकिन, इसका मतलब यह तो नहीं कि हम निरे बुद्धू ही हैं ! पर क्या कहें, 'वे' मुँह से तो कभी इस मनहूस शब्द का प्रयोग नहीं करतीं, लेकिन अपने आचरण और इशारों से मुझे इस बात का आभास कराती ही रहती हैं कि मैं इससे कुछ अधिक या पृथक भी नहीं हूँ।

आप ही सोचिए, मैं पढ़ा-लिखा, अच्छा-खासा सभ्य-तन्दुरुस्त

आदमी, कहीं बेवकूफ़ हो सकता है? लेकिन उनसे कोई इस बात को कह तो देखे? 'वे' मुझे अक्लमन्द मानने को क़तई तैयार नहीं। उनका पक्का विचार है कि मैं सचमुच ऐसा भोंदू हूँ कि मालिनें और कुंजड़िनें मुझे आसानी से ठग सकती हैं, दर्जी मेरा कपड़ा मजे में खा सकता है, हर दूकानदार मुझे आराम से लूट सकता है, सफ़र में मेरी जेब काटी जा सकती है और मेरा आगे क्या-क्या नहीं हो सकता? उनके विचार से, घर से बाहर अकेले में कहीं भी निरापद नहीं हूँ। न जाने कब मुझे, और कुछ नहीं किसी की नजर ही लग जाय? न जाने कब मुझे कहीं कोई बहका ही ले? पता नहीं कब मुझे बुखार ही हो जाय तो? और जी आजकल किसी का कोई ठिकाना है—कोई कहीं मुझ पर जादू-टोना कर बैठे तो 'वे' बस बैठी ही रह जायेंगी कि नहीं? इसलिए वह सदा छाया की तरह मेरे साथ लगी रहती हैं। मैं गृहस्थी की गाड़ी का ड्राईवर भले ही होऊँ, मगर यह गाड़ी बिना उनकी सिग्नल के हरगिज नहीं रेंग सकती!

खुद मैं अपने आपको कोई कम होशियार और किसी से कम फ़िलना नहीं समझता, लेकिन 'वे' मुझे सिर्फ़ भोला और भुलक्कड़ ही कह कर ख़्वाब करती हैं। कभी-कभी तो मैं उनसे मजाक में कह भी देता हूँ—सुनो, तुम तो नाहक ही मुझसे शादी करके पछताईं। इस पर जब 'वे' आँखें तरेरने लगती हैं तो उनसे पूछता हूँ—अच्छा बताओ मुझमें और तुम्हारे बड़े लड़के में तुम्हारी समझ से क्या मौलिक अन्तर है? लेकिन मुश्किल यह है कि इस बुद्धिमानी के प्रश्नों से मेरी अक्लमन्दी उनकी निगाह में कभी भी सही नहीं उतरती।

कभी-कभी जब कुछ सिरफिर अख़बारों में नारियों की आजादी के आन्दोलन का समर्थन देखता हूँ तो मुझे बड़ा क्षोभ होता है। इन अक्ल के मारे सम्पादकों पत्रकारों और लेखकों से कोई पूछे कि आज नारी परतन्त्र है या नर? कौन कहता है कि नारी परतन्त्र

है ? परतन्त्र तो बेचारा आदमी है । दूर क्यों जाते हैं, खुद मुझे ही देखिए न ? मुझ-जैसी सुशिक्षित, समझदार, भले घर की सबका मान-सम्मान करने वाली, सद्‌गृहस्थ पत्नी हर एक को मुश्किल से ही नसीब होगी । लेकिन मैं ही जानता हूँ कि अपने घर में अपनी सहेलियों का सत्कार करने में 'वे' कितनी स्वतन्त्र हैं और अपने ही घर में अपने मित्रों की आवभगत करने में मैं कितना परतन्त्र हूँ ?

कहने का मतलब यह कि 'वे' लाखों से भली हैं, नेक हैं, खुशदिल हैं और उदार प्रकृति की भी हैं लेकिन तभी तक, जब तक कि मैं उनकी समझ के दायरे के अन्दर बिना कान-पूँछ हिलाए चला जाता हूँ । अगर कहीं उनकी खींची हुई लक्ष्मण रेखा (नहीं-नहीं पत्नी-रेखा) का अतिक्रमण करके अपने पत्नीव्रत धर्म से मैं जरा भी डिगने लगता हूँ तो समझ लीजिए कि मेरी भी पुश्तनी रियासत पर सरदार पटेल की नजर पड़ी ! अब पड़ी !!

मैं शौक से बाजार जाऊँ, ठाठ से सिनेमा देखूँ मजे से सैर करता रहूँ लेकिन मेरा पथ तभी तक सुरक्षित समझिए कि जब तक या तो 'वे' खुद साथ हों या उनकी आज्ञा की लालटेन मेरी राह के अन्धकार को दूर कर रही हो ! क्योंकि बिना आज्ञा के बाजार जाना—आवारागर्दी सिनेमा देखना—पाप, और सैर करना—महान् मूर्खता है ! इन अपराधों का दंड भी कोई साधारण नहीं मिलता । आँसुओं के महासागर में डुबकियाँ लगाने से लेकर तनहाई तक की सजा उनके 'पीनल कोड' में दर्ज है ! इतना ही नहीं जुर्म संगीन होने पर कभी-कभी तो तनहाई के साथ-साथ राशन-पानी भी बन्द कर दिया जाता है । अभी-अभी एक और एटम बम खोज निकाला गया है । अब तो बाजार-सिनेमा की ओर रुख करते ही हमारी पाकेट मार ली जाती है और यह शरणार्थी बनाकर छोड़ा जाता है कि हमारी जेब में ट्राम तक को पैसे नहीं होते ।

उनकी भलाइयों और उनके साथ लगे हुए इस लेकिन के किस्से का कहाँ तक बयान करूँ ? हाल यह है कि घर में भोजन अच्छे-से

अच्छा बनता है, मगर यह होता है सब-कुछ उनकी रुचि का । कपड़े मुझे अच्छे-से-अच्छे पहनने को मिलते हैं लेकिन मेरी पसन्द के बारे में मुझसे कभी एक शब्द भी नहीं पूछा जाता । मेरे घर में बढ़िया-से-बढ़िया चाकरी है, एक-से-एक आला चित्र है, भगवान की कृपा से सब-कुछ है, लेकिन कसम ले लीजिए कि रेडियो से लेकर आलू छीलने की मशीन तक में मेरी सलाह और समझदारी का रत्ती भर भी साझा नहीं ।

सही बात तो यह है कि कभी विवाह के समय जब हम दोनों ने सप्तपदी के फेरे लगाए थे, उनमें मैं भले ही थोड़ी देर को आगे रहा होऊँ, आज तो 'वे' मुझे आगे निकलने ही नहीं देतीं । अब तो खरीदे हुए घोड़े की तरह बिना कान-पूंछ हिलाए मुझे उनके पीछे-पीछे ही चलना है । राजी से चलूँ या नाराजी से चलना मुझे उनके पीछे ही है—क्योंकि डोरी मेरी उनके ही हाथ में है ।



अब तो खरीदे हुए घोड़े की तरह बिना कान-पूँछ हिलाए मुझे उनके पीछे पीछे ही चलना है क्योंकि डोरी मेरी उनके ही हाथ में है।"

(पृष्ठ १४)



'उन'के साथ बाजार जाना

"एक दिन शाम को भोजन न मिले—सह सकता हूँ; रात को पलंग पर बिस्तर न हो—कोई बात नहीं पर श्रीमतीजी के साथ बाजार जाना ना बाबा ! यह तो घर आई मुसीबत मोल लेना है !"

खतम होने की सूचना देजाया करता है ! अब अगर आपको शनिवार की शाम और रविवार के पूरे दिन की सैर मनानी है तो पहले चुपचाप बिना कान-पूँछ हिलाए इन अभावों की पूर्ति करनी होगी और फिर यह मनाना होगा कि हे भगवान इन्हें कम-से-कम इतनी सुबुद्धि तो दो कि अब चलते-चलते किसी अपनी सहेली के यहाँ तो मेरा पार्सल न करदें कि "जरा जाना जी मैंने शीला से भी बाजार साथ चलने को कह रखा है !"

हाँ, अगर आपके ज्यादा बाल-बच्चे नहीं हैं और मेरी तरह आपके भी *एक मुन्ना और एक ही मुन्नी है तो कोई बात नहीं।* जैसा अक्सर मैं करता हूँ वैसा ही आप करें कि उन्हें अकेले घर न छोड़ें । एक को कन्धे से लगालें और दूसरे को अंगुली पकड़ादें। लेकिन भगवान की कृपा और पूर्वजों के पुण्य प्रताप से आपकी फुलवारी फूली हुई है और आपकी बालचर सेना में हमारे पड़ौसी की तरह पूरी 'इलविन' में यदि केवल चार की ही कमी रह गई है तो सच मानिए, मैं आपको कोई सलाह देने के लायक नहीं हूँ ! तब तो भगवान ही आपका मालिक है ! बस यह समझ लीजिए कि आप किसी कस्बे की भरी सड़क में टहलते हुए एक मुर्गियों के काफ़िले के समान हैं ! सड़क पर चलते हुए इक्के से, ताँगे से, बैलगाड़ी से, मोटर से—किस-किसका क्या हाल होगा है यह कोई ज्योतिषी भी नहीं बता सकता !

मुसीबत एक हो तो कही जाय और उसका इलाज भी किया जाय ! वे श्रीमतीजी, जिनसे घर में यह कहा जाय कि जरा उठकर पानी ही पिलादो, तो नौकर को आवाज देने लगती हैं, या उसके अभाव में एसे उठती हैं कि न जाने दिन भर इन्हें किस चक्की में जुतना पड़ा है ! वही बाजार में पहुँचते ही इतनी चुस्त और चंचल होजाती हैं कि औसत हिन्दुस्तानी पति उस वक्त उनका मुकाबला नहीं कर सकता ! एक दूकान से दूसरी पर इस झपाटे से पहुँचती हैं कि आपको इसका जब तक कि वह वहाँ से खुद आवाज न दें, पता

नहीं चल सकता। और, यह तो दूकानों की बात है कि भीड़ भाड़ में पता नहीं चलता कि कहाँ गइ और क्या हुआ? लेकिन मेरा तो अनुभव यह है कि खरे बाजार और खुली सड़क पर भी आप चलने में उनका साथ नहीं दे सकते। मार्ड के डिब्बे की तरह आपका स्थान पीछे ही सुरक्षित है।

तनिक आप उस दशा की कल्पना कीजिए कि जब आप मुन्ने को कन्धे से लगाए, मुन्नी का हाथ थामे अपनी बगल में चीजों का पुलन्दा लिये, श्रीमतीजी के पीछे-पीछे घिसट रहे हैं और आपके मिलने वाले हैं कि आपसे नमस्ते का फ़र्ज सिर्फ उसी समय अदा करना चाहते हैं! नमस्ते करके ही वे टल जाएँ तो भी ग़नीमत समझिए! लेकिन क्या बताएँ, उनमें से कुछ महाशय तो इस क़दर हमदर्द होते हैं कि उनकी सलममसाहत का खुले शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता। वे कुछ देर ठहर-ठहरा कर हमारी हालत पर तरस खाना चाहते हैं और लाचारी यह है कि पत्नी के सामने असभ्य व्यवहार के दोषी न बन जाने के कारण समझिए या अपनी अममसाहत और स्थिति के तकाजे से विवश हमें कुपित होने के बजाय उन धूर्तों से मुस्कराकर ही बातें करनी पड़ती हैं।

तस्वीर का एक और भी पहलू है। हम बड़े आदर्शवादी हैं, धड़ल्ले के समाज-सुधारक हैं, स्वदेशी का प्रन भरी सभा में ले चुके हैं लेकिन एक हमारी 'वे' हैं कि इन सब चीजों को वाहियात और बेतुकी समझती हैं। हम समझते हैं कि भारतीय औरतों की साड़ी जरा मोटी और हाथकते सूत की होनी चाहिए, लेकिन उनको ठेठ विलायत की पारदर्शी वायल पसन्द है। हम सौन्दर्य और शृंगार के लिए पाउडर, क्रीम और लिपिस्टिक को बिल्कुल आव श्यक नहीं समझते। यही नहीं, हमारा ऐसा ख्याल है कि इन चीजों के प्रयोग से स्वाभाविक सौंदय नष्ट होजाता है। लेकिन भाइ मेरे, जरा आप इस तर्क को घर में प्रयोग करके तो देखिए, तीसरा महा-

युद्ध पहले ही शुरू न होजाय तो मेरा नाम नहीं ! हम फालतू चीजों के एकत्रीकरण के सख्त खिलाफ़ हैं । लेकिन श्रीमतीजी का हाल यह है कि अगर उनका वश चले और घर में जगह हो, तो वे सारे बाजार को अपनी सन्दूकों और आलमारियों से भर लें।

गरज यह है कि हमारी रुचियाँ अलग हैं, उनकी अलग ! मुसीबत यह कि 'वे' अपनी पसन्द हम पर जाहिर कर सकती हैं, लेकिन हम भरे बाजार में उनकी रुचि, चुनाव योग्यता और पसन्द को कोई चुनौती नहीं दे सकते। क्योंकि घर लुट जाय, इसकी कोई चिन्ता नहीं, सिद्धान्तों का आँखों आगे खून होता रहे, इसका भी कोई महत्त्व नहीं, महत्त्व सिर्फ इस बात का है, चिन्ता सिर्फ इतनी है कि कहीं कोई ऐसी बात न होजाय जिसे सभ्य-समाज में 'एटीकेट' के बाहर बताया जाता है। तो उनके साथ बाजार जाने में होता यह है कि हमें अपने धन को छोड़कर अपने तन और मन दोनों पर संयम रखना पड़ता है!

अभी कुछ दिन हुए, कहीं एक लेख भी पढ़ा था। इसमें लिखा था कि पति की प्रकृति चन्दन के समान होनी चाहिए और पत्नी की प्रकृति दियासलाई की तरह! पत्नी की प्रकृति से तो हमारा कोई वास्ता नहीं। मुझे भी कोई लेख लिखना पड़े तो मैं दिया-सलाई छोड़ उन्हें बारूदी सुरंग की उपमा दे डालूं लेकिन जहाँ तक पति की प्रकृति का सवाल है, हमें चन्दन की उपमा की कद्र करनी चाहिए।

लेकिन बातों से और चन्दन बनकर रहने से ही काम चल जाय तो कोई मुसीबत खड़ी न हो। यहाँ तो मुसीबत यह है कि आमदनी अपनी सीमित है और इच्छाएँ उनकी असीमित! पास-पड़ौस में जितनी औरतों पर जितने नये डिजायन की साड़ियाँ वे देखती हैं, उन सबको खरीद लेना चाहती हैं। इस पर चतुर दूकानदार भी पतियों की हालत पर कोई खास रहम खाने वाले नहीं होते। उन्हें एक मामूली-सी छींट का टुकड़ा दिखाने के लिए कहिए, वे रंग-बिरंगे



"अगर उनका बस चले और घर में जगह हो तो वह सारे बाजार को
सन्दूकों और आलमारियों में भर लें !" (पृष्ठ २०)

थानों के अम्बार लगा देंगे और इतनी तरह-तरह की दिल-पसन्द चीजें पेश करेंगे कि आपकी 'उन'के मन में विभ्रम पैदा होजाए कि क्या तो लें और क्या छोड़ें ? गरज यह है कि बिना गाँठ कटे आपकी गति नहीं । लेकिन सोचिए, आखिर आपकी गाँठ कहाँ तक कटेगी ? कोई कुबेर का खजाना तो आपके यहाँ गड़ा है नहीं ? अक्सर होता यह है कि 'पर्स' बेचारा लाचार होकर मुँह फाड़ देता है, मगर उनकी तमन्नाएँ पूरी नहीं होतीं । आखिरी वक्त कभी-कभी तो ऐसा भी आ जाता है कि लौटने के लिए तांगे के पैसे तो दर-किनार, मुन्ने के गुब्बारे के लिए भी एक आना जेब में नहीं रहता । तब यह जरूरी है कि आप पग-यात्रा को महत्त्व दें । यह भी जरूरी है कि आप मुन्ना, मुन्नी और सामान के भार से थक जाएँ और आपको सहायता के लिए श्रीमतीजी से अपील करनी पड़े और उस अपील के प्रत्युत्तर में जो सर्टीफिकेट आपको इनायत फरमाया जाय, उससे आपकी आत्मा हरी होजाय और आगे से आप कभी उनके साथ बाजार न जाने का संकल्प कर बैठें ।

लेकिन आपका संकल्प कितना टिकाऊ है, और आपकी मुसीबतों का सिलसिला कितना छोटा है—यह हम अच्छी तरह जानते हैं !

दिल्ली में मकान खोजते-खोजते आज तीन साल होगए, मगर मकान क्या हुआ एक मुसीबत होगई है। नई दिल्ली और कनाट प्लेस के ऊँचे-ऊँचे महलों से लेकर शहर की सीमा में स्थित जितनी भी गन्दी और उजली गलियाँ हैं, उन सबकी चरण रज हम शीश पर चढ़ा चुके हैं, लेकिन तकदीर कुछ ऐसी खोटी है कि सब जगह से एक ही टका-सा उत्तर मिलता है—"जी, अभी तो कहीं कोई खाली नहीं है।"

कभी-कभी हम सोचते हैं कि इतनी लगन यदि कहीं हमने पिछले दो-एक स्वदेशी आन्दोलनों में दिखा दी होती तो आज कैसा मकान कहीं के एम० एल० ए० होगए होते। तब हम तो क्या, हमारे रिश्तेदारों तक को वह कोठियाँ 'एलाट' हुई होतीं कि लोग भौंचक्के रह जाते। या गोसाईं तुलसीदासजी की तरह हमें भी अपनी पत्नी का व्यंग-बाण लग गया होता (हालांकि उनकी तरफ से इस काम में कभी कोई जान-बूझकर चूक नहीं हुई) और हमने भी जग-ारी छोड़कर 'हरि से हेत' किया होता तो विश्वास मानिए कि ामियों के भी ध्यान में न आने वाला वह परमात्मा भी हमारे ऐसे प्रत्यक्ष तप से पिघल गया होता और मकान की तो क्या चली, हम त्रिलोकी का राज्य भी पागए होते। फिर हमें घर-गिरस्ती बसाने के लिए यों किसी दड़बे की जरूरत ही नहीं पड़ती।

आपसे क्या छिपाएँ, जितने भी अपने रिश्तेदार हैं या आसानी से जिन्हें रिश्तेदार बनाया जा सकता है, सच मानिए, उन सबके घर दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह दिन ठहरकर हमने अपनी नई और पुरानी सब रिश्तेदारियाँ खत्म कर डाली हैं। अब तो हाल यह है कि भूले भटके अगर किसी दिन हम कहीं उनसे मिलने भी जा निकलते हैं तो उनकी पत्नियाँ पति को डाँटकर अन्दर से ही कहलवा देती

हैं—"वे तो बाहर गए हैं !'

अब तो शहर की धर्मशालाओं के मुन्शी मेहतर और चौकीदारों पर ही हमारी दिल्ली बसी हुई है ! जिस दिन इनकी आँखें भी फिर गईं—बस उसी दिन हमारे लिए संसार सूना होजाएगा ! इन लोगों से जैसे हमारे ताल्लुक हैं वसे आपको सगे भाइयों में भी नहीं मिलेंगे ! हों भी क्यों नहीं ? जब एक-एक धर्मशाला में तीन-तीन दिन नियम से और दस-दस दिन धांधली से हम डेरा डाल चुके हैं तो ये मुन्शी, मेहतर और चौकीदार, भला हमें नहीं पहचानेंगे तो और किसे पहचानेंगे ?

कितनी ही बार तो ऐसा हुआ है कि दिन-भर दफ्तर में काम करके हम रात को गुरुद्वारे में जा सोए हैं और सुबह 'सत् श्री अकाल' कहकर वहां से 'कड़ाह प्रसाद' प्राप्त करके खिसक आए हैं !

हां अभी फुटपाथ पर सोने की नौबत नहीं आई ! पर हमारी तकदीर का असर यही हाल रहा और भगवान की ऐसी ही कृपा बनी रही कि दिल्ली में इसी तरह आम भरती होती चली गई तो वह दिन भी दूर नहीं समझना चाहिए कि जब हम बिस्तर बगल में दबाए किसी फुटपाथ की तलाश में अंधेरे में निकल पड़ेंगे ।

यह नहीं कि हमने मकान की तलाश में कहीं कसर छोड़ दी हो या अपनी-सी करके न रहे हों । सच तो यह है कि कोई आई० सी० एस० या पी० सी० एस० के इम्तिहानों में भी क्या तैयारी करके बठता होगा कि जिस सूझ-बूझ और तत्परता से हम मकान की खोज में निकलते हैं ।

दोस्तों की बात तो छोड़ दीजिए, मिलने-जुलने वालों और जिनसे थोड़ी-सी भी राम राम या दुआ-सलाम बाकी है उन सबसे हम दिन में तीन बार पूछ लेते हैं "कहिए, कहीं कोई सुराग़ *मिला ?"* और जसे ही कहीं हमें अपनी तकदीर कुछ कुछ मुसाती नजर आती है यानी पता चलता है कि कहीं कोई मकान खाली हुआ है या होने वाला है हम उसके आस-पास बसे ही

मँडरा उठते हैं जैसे कि चुनावों के दिनों में हमारे भाई-बन्द वोटों के अन्धे और गाँठ के पूरे उम्मीदवारों के पास आ मँडराते हैं।

शायद भारतीय पुलिस के सी० आई० डी० वाले भी अपने फर्जी मुजरिम का पता इस होशियारी और मुस्तैदी से नहीं लगाते होंगे कि जिस लगन और सफाई से हम खाली मकान के मालिक का ही नहीं उसके भाई भतीजे, साले-ससुरों तक की खोज-खबर ले आते हैं और तरह-तरह से अपनी बातों और सिफारिशों का जाल उस पर बिछा देते हैं। लेकिन साहब क्या बताएँ ? ऐसे-ऐसे भीम प्रयत्नों के बाद भी हमारा मोर्चा अभी तक कहीं जम नहीं पाया है और हमारी गोली हर बार खाली ही गई है।

उस समय की हमारी हालत का आप अन्दाजा तक नहीं लगा सकते कि जब मकान-रूपी लंका की खोज में हम न जाने किन-किन सुरसाओं के मुँह से निकलकर त्रिकूट पर्वत पर पहुँचते हैं और इससे पहले कि हम मशक समान रूप धारण करें हमें पता चलता है कि वह सोने की पुरी तो पहले ही लुट गई—अर्थात् मकान हमारे पहुँचते-पहुँचते घिर गया है और हमें बड़े अफसोस के साथ कहा गया है, "जी, आप कल नहीं आए, नहीं तो वह आपका ही था। हमने उसे अपने लड़के के, साले के, भाई के, भतीजे को अभी-अभी उठा दिया है।'

तो मैंने कहा, दिल्ली में सब कुछ है, पर मकान नहीं। यहाँ चार प्रहर लक्ष्मी बरसती है, पर गृहलक्ष्मी को टिकाने के लिए चार हाथ जगह नहीं। आप अगर कंगाल हैं तो दिल्ली आजाइए, चोर बाजार से मालामाल होजाएँगे। यदि पैसा बहुत है और उसके खर्च करने की कोई सूरत नजर नहीं आरही तो चावड़ीबाजार के बाजार में सिर्फ एक चक्कर काट लीजिए, सूरतें-ही-सूरतें नजर आने लगेंगी। इन दोनों में से भी आप किसीके लायक नहीं तो नौकरी यहाँ दिन में तीन की जा सकती है और छः छोड़ी जा सकती हैं। सच कहता हूँ कि अंग्रेजों के जमाने में रायबहादुरी का मिलना भी

इतना कठिन नहीं था, जितना इस समय एक छोटे-से मकान का मिलना कठिन होगया है।

अभी ताज़ी परसों की बात है। हम एक नई बस्ती में खाली मकान का सुराग पाकर पहुँचे। किवाड़ों पर बार-बार दस्तक देने और चीखने-चिल्लाने पर मकान-मालिक मुश्किल से निकले और बिगड़ते हुए-से बोले 'क्यों क्या काम है ?

'जी' मैंने कहा—"कोई मकान खाली सुना है ?"

मकान मालिक चिड़चिड़ाकर बोले, 'सुबह से शाम तक मकान मकान ! यहाँ कोई खाली नहीं है !'

लेकिन जैसे चिकने घड़े पर पानी की बूँदें नहीं ठहरतीं वसे ही इन उत्तरों को सुनते-सुनते हम भी एक ही पक्के होगए हैं ! हमने और भी विनम्र होकर कहा "जी ठीक है नहीं होगा। पर वह जो अपने लाला छदामीमल हैं न ? उन्होंने भेजा है और कहा है कि लाला छदामीमल से मेरा नाम लेना। लालाजी बड़ी मेहरबानी होगी !"

लालाजी ने बड़े ध्यान से हमें ऊपर से नीचे तक देखा। मानो शहर कोतवाली में दीवान साहब किसी नामी गुण्डे की शिनाख्त कर रहे हों ! फिर थोड़ी देर सोचकर बोले 'अन्दर आइए !'

सतयुग में जब गज को ग्राह ने ग्रसा था और उसने सूँड ऊँची करके हरि भगवान से टेर लगाई थी कि हे अशरण शरण, भक्त वत्सल प्रभो तुम्हीं हो दीनानाथ—अब तेरे सिवा कौन मेरा कृष्ण कन्हैया ! ठीक इसी तरह ही मैंने सकट मोचन नाम तिहारो' का पाठ करते हुए कहा कि हे पवनपुत्र 'अब तूही बचा लाज मेरी' और शठ इस लाला के घट में।

अन्दर ले जाकर लाला ने हमें अपनी ललाइन के सामने खड़ा कर दिया। बोले 'यह मकान चाहते हैं, बात करलो इनसे !'

खजूर से गिरा तो बबूल में अटका ! लालाजी से तो हनुमानजी विजय दिला भी सकते थे, पर ललाइन के सामने तो हमें उनकी भी मानो मूँछ गिरती दिखाई दी !





मकान मालकिन बोलीं "जी आपकी शादी होगई है ?" (पृष्ठ २७)

घूँघट सरकाकर मकान मालकिन बोलीं, "जी आपकी शादी होगई है ?'

प्रश्न सुनकर मैं सन्नाटे में आगया। आखिर सवाल का मतलब क्या है ? कुछ देर बाद जब अक्ल ठिकाने आई तो मालूम हुआ कि सवाल ने तो पहले ही वार में हमारी धरती खिसका दी होती पर यह तो यों कहिए कि हमारे पिताजी बड़े बुद्धिमान थे, उन्होंने भाग के खतरे को १६ साल पहले ही अनुभव करके हमारी घाई-माई बचपन में ही कर दी थी !

हमने सीना तानकर कहा, 'जी भगवान की कृपा से दो बच्चे भी हैं।

फिर पूछा, "आपकी बहू लड़ाका तो नहीं है ?'

हमने मन में कहा कि लड़ाका तो वह ऐसी है कि उसके मारे अच्छा-खासा घर छोड़कर दिल्ली देखनी पड़ी है। पर प्रकट में सवाल से कहा 'जी, बिल्कुल गऊ है गऊ ! भले घर की लड़की है, सीधे मुँह उठाकर बात भी नहीं करना आता !

लेकिन, यहीं तक गनीमत नहीं थी। सेठानी के प्रश्नों की बौछार जारी थी—बच्चे ऊधमी तो नहीं हैं ? आप प्याज तो नहीं खाते ? पंजाबी सा नहीं है ? कहाँ काम करते हैं ? कितनी आमदनी हो जाती है ? अब तक कितने मकान बदले हैं ? मेहमान तो आपके यहाँ नहीं आते ? आदि-आदि।

फिर कहा, "जी, बहू-बेटियों का घर है। हम तो भले आदमी को ही अपने यहाँ बसाते हैं। और देखिए बाबूजी, यह बात पहले से सुन लें—छतें सब झाड़नी पड़ेंगी, पखाना रोज धुलाना होगा, जीना, आँगन सब आपके जिम्मे है। और देखिए, मकान की मरम्मत हम नहीं करायेंगे कि पीछे आप यह कहें कि यह लगवादो, वह लगवादो, यह टूट गया वह फट गया।

आप जानते हैं कि गरज बावली होती है। जैसा कि तय था इन सब बातों का उत्तर 'हाँ' में ही दिया गया। हम समझते थे कि

बस मैदान मार लिया। लेकिन हमें यह क्या पता था कि अभी हल्दी-घाटी का संग्राम बाकी है। लालाजी जो अभी तक गुम बने बैठे थे अब उनकी चोंच खुली। कहने लगे, 'देखिए बाबू साहब, हम किसी बाहर के आदमी को मकान नहीं देते, पर क्योंकि आप लाला छदामीमल के भेजे हुए हैं तो ऐसी बात है कि आपको इन्कार भी नहीं किया जा सकता !"

हमने समझा कि शायद हमारी बृहस्पत जोर मार रही है।

लेकिन कुछ ही क्षण बाद लाला छदामीमल ने फिर कहा 'देखिए जी हम लड़ाई झगड़े वाले आदमी नहीं हैं। जो बात तय होजाती है उस पर बाद में झगड़ा-टंटा नहीं करते।'

हमने श्रद्धालु भक्त की भांति गर्दन झुकाली और उनके प्रवचन को आकंठ पान करते गए।

फिर उन्होंने पलकों को दो-तीन बार झपकाकर ओठों को पहले सिकोड़ा और फिर आगे फैलाकर अपने चारों ओर देखते हुए धीरे से कहा, 'हम कोई लिखा-पढ़ी नहीं करेंगे। किराए की रसीद भी नहीं देंगे। मकान जब चाहेंगे तब खाली करा लेंगे।'

भला मैं चाहकर भी इस पर कोई आपत्ति कैसे कर सकता था ?

लालाजी कहते गए, 'ऊपर दो कमरे हैं, किराया भी मामूली है, यही—६० ६० रुपए। वाटर टैक्स अलग बिजली टैक्स अलग भंगी का महीना अलग, फिनाइल के दाम अलग। आपको छदामीमल ने भेजा है, नहीं तो एक-एक कमरे के १००-१०० रुपए लग चुके हैं। आप जैसे भले आदमियों से अधिक लेना शोभा भी नहीं देता ! मकान आप जानते हैं लड़ाई में बनवाया है। २५०००) टूट गए हैं ! कोई और काम तो अपने यहाँ होता नहीं। बस २००) ही और दे दीजिए।

गुब्बारे की डोरी गुम जाने पर जैसे उसकी फूँक सरक जाती है, वैसे ही लालाजी की महाप्राण बातों को सुनते-सुनते हमारी छाती बैठ गई थी। फिर भी हमने जोर लगाकर पूछा, "जी यह

५००) क्या किराए के पेशगी हैं ?''

बोले, 'अजी आपसे क्या पेशगी लेंगे ? भले आदमी किसी का एतबार नहीं रखते । आजकल ५००) होते ही कितने हैं ? इस लड़ाई में तो रुपए की कदर अधेले की रह गई है !'

मैंने डरते-डरते पूछा, "तो आपका मतलब पगड़ी से है ?'

तो बोले, 'आप इसे पगड़ी कहते हैं—राम राम ! अभी यह तो नए मकान की मुँह-दिखाई है बाबूजी ! वह भी आपकी खातिर। नहीं तो इतने कम किराए का और ऐसा आलीशान मकान दिल्ली में आपको दूसरा नहीं मिल सकता !"

उस आलीशान मकान की बाबत कुछ न कहना ही अच्छा होगा । कच्चा फर्श टूटी छत । कमरे ऐसे आलीशान कि जिनमें कोई ताक नहीं, आलमारी नहीं, जंगला नहीं । लम्बे चौड़े इतने कि दो खाटें मुश्किल से बिछ सकें । मोरी नहीं, परनाला नहीं, रसोई नहीं, पड़हरी नहीं ।

दबी बिल्ली जैसे चूहों से कान कटाती है, वैसे ही हम वहाँ से उठकर चले आए हैं और अपनी सारी झुँझल कलम के सहारे बेकार कागजों पर उतार रहे हैं । आप इसे पढ़कर हँसेंगे, कुछ को शायद हमारे हाल पर हमदर्दी भी होजाय लेकिन धर्मशाला में लौटकर अपनी श्रीमतीजी को हम क्या उत्तर देंगे, यह अभी तक समझ में नहीं आया है ।

आजकल तो हाल कुछ ऐसा होगया है कि क्या घर और क्या बाहर, कहीं कोई बात बनाए ही नहीं बनती। एक हमारे महा-महिमामय पूर्वज थे कि उनके घर यदि कभी कोई अतिथि आजाता तो समझते थे कि जैसे स्वयं भगवान ने ही उन पर कृपा की हो। परिवार-भर में आनन्द का सागर हिलोरें लेने लगता। दूर से ही अर्घ्य देते और पलक-पाँवड़े बिछाते अतिथि महोदय का सुस्वागत किया जाता। भाँति भाँति के पेय-पकवानों से उनकी रसना तृप्त की जाती। भाँति-भाँति के आनन्ददायक व्यवहार बरते जाते। इस प्रकार फूँक-फूँक कर कदम रखा जाता कि अतिथि को कोई ठेस न लग जाय। यह समझिए कि सारा घर मेहमान के मुँह की ओर ताकता रहता। इससे पहले कि श्रीमान् कुछ कहें उनकी फरमाइशें पूरी कर दी जातीं।

तो मैंने कहा एक तो वह युग था और एक आज है कि मेहमान का घर आना तो दूर, अगर कहीं से किसीकी चिट्ठी भी आजाती है कि हमारा विचार दिल्ली देखने का है तो सच मानिए, नाड़ी अपना नियत स्थान छोड़ देती है और दिल की धड़कन कम-से-कम चार गुनी अवश्य ही बढ़ जाती है। हम विश्वास भी नहीं कर पाते कि यह सज्जन सच लिख रहे हैं या मजाक कर रहे हैं? दिल अन्दर-ही-अन्दर मनाता है कि हे भगवान यह मजाक ही हो! और आप जानते ही हैं कि भगवान् हमेशा मनुष्य का साथ नहीं दिया करते। इसलिए केवल भगवान पर ही भरोसा न करके हम अपनी विद्यास दाहिनी भुजा में जो पाँच अंगुलियाँ हैं उनमें स्वयं देवी 'पार्कर' सम्हाल लेते हैं और मित्र को लिखते हैं—

"भाई, तुम्हारे दिल्ली आने के निर्णय से हमें खुशी हुई। तुम्हें

वैसे बहुत दिन भी तो होगए हैं ! आते तो बड़ा ही चित्त प्रसन्न होता ! लेकिन मुझे दुःख है कि मैं स्वयं तुम्हें यहाँ न आने की सलाह देरहा हूँ । मैं अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थ के लिए भी तुम्हारा अहित नहीं सोच सकता । बात यह है कि यह मौसम दिल्ली आने का नहीं । सफ़र में जो परेशानी होती है और रेलगाड़ियों में जो मुसीबत है वह तो दर-किनार, उसे तो तुम जब आओगे खुद भुगत कर समझ ही लोगे मगर इतनी दिक्कत के बाद जब दिल्ली पहुँचोगे तो यहाँ का हाल देखकर तुम्हें भारी निराशा होगी । एक तरफ चेचक चल रही है तो दूसरी तरफ हैजा फैल रहा है ! न कहीं आने के और न कहीं जाने के ! दिन-भर घर में क़ैद पड़ रहो और बाहर निकलो तो आजकल न यहाँ कोई थियेट्रिकल कम्पनी है न सिनेमाओं में अच्छे खेल ही चल रहे हैं ! फिर आजकल समय भी बाहर निकलने का ज़रा कम ही है । मेरी तो तुमसे मिलने की बड़ी इच्छा है, मगर क्या बताऊं ? परिस्थितियाँ मेरी भावनाओं का लाचार किये देरही हैं और मैं तुम्हें फ़िलहाल यहाँ न आने की ही सलाह देने के लिए विवश हूँ ।

अक्सर नेक आदमी हमारी इस सलाह को मान लेते हैं । पर भाई, पाँचों अँगुलियाँ एक-सी तो होती नहीं ? कुछ हमारे भी गुरु होते हैं कि *बिना चिट्ठी-पत्री के ही दुर्भाग्य की तरह आ धमकते हैं ।*

जंगल में शेर की दहाड़ सुनकर बछड़े के प्राण यों न सूख जाते होंगे जैसे मेहमान की नमस्ते से हमारे होश हिरन हो जाते हैं ! इस मुसीबत से बचने के लिए हमने कुछ कम पेशबन्दियाँ नहीं कीं । जैसे, मकान छाँटकर उस जगह लिया है जहाँ न ताँगा पहुँच सकता है न रिक्शा । न पालकी न टट्टू । गली के अन्दर गली इस क़दर आती है कि कोई भूलभुलैयाँ बनाने वाला आकर मेरे मकान के नक्शे का देखे कि यहाँ तक पहुँचना कितनी बहादुरी की बात है ! और मकान तक पहुँचने से ही कोई हम तक पहुँच जाता हो, ऐसो

बात नहीं। ज़ीने के ऊपर ज़ीना और कमरे के बाद कमरा, इस कदर धंसा जाता है कि जब तक कोई म्युनिसिपैलिटी के भोंपू की सी आवाज़ में ही हमारे नाम का उच्चारण न करे, हमारे कान पर जूं नहीं रेंग सकती। फिर सुनकर हम जवाब दे ही देंगे इसकी क्या गारण्टी है? पहले लड़के को भेजेंगे कि देखो कौन है? कैसा है? फिर लड़के की रिपोर्ट पर श्रीमतीजी खिड़की से उभक-झांक कर मुआयना फरमाएँगी कि कहीं सामान तो साथ में नहीं है? बच्चों-कच्चों की पलटन तो पीछा नहीं कर रही? इस प्रकार जब श्रीमतीजी सिगनल दे देती हैं और हम समझते हैं कि 'लाइनक्लियर' है तो पहले हम खिड़की से झांकते हैं और जब तक बहुत ही हानि नुकसान का प्रश्न न हो, हम ६६ प्रतिशत कहलवा देते हैं—'बाबूजी बाहर गए हैं।

पर सारी अक्ल का ठेका, सोचिए, हमने ही थोड़े ले रखा है। भगवान ने एक-से-एक विचित्र खोपड़ियाँ, यानी महापुरुष, इस धरा धाम पर चुन-चुन कर उतारे हैं। आप यह जानकर कि किले में यानी घर में तो हम अजेय हैं, बाहर सड़क पर, यानी खुले में, हम पर हमला करते हैं। दफ्तर में सीधे पहुँचते हैं।

लेकिन इससे पहले कि वह हमसे कुछ कहें हमने भी कुछ गुर याद कर रखे हैं। हाथ मिलाते ही हम उनसे प्रश्न करते हैं—'कहिए, कहाँ टिके हैं?' और उनके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना तत्काल ही दूसरा वार कर बैठते हैं—'कब जा रहे हैं?' अगर इन दो तीरों से भी कोई बहादुर बच जाता है तो फिर हम अपना अमोघ ब्रह्मास्त्र चलाते हैं—'नाश्ता-वाश्ता तो कर आये हैं न?'

मानना पड़ेगा कि दुनिया में अभी शरीफ आदमियों की कमी नहीं है। अगर भले आदमी न हों तो धरती-आसमान कैसे टिके रह सकते हैं? तो, मैंने कहा, हमारे इन प्रश्नों को सुनकर विरला ही भला आदमी हमारे यहाँ टिकने की हिम्मत कर पाता है। अक्सर लोग घबराकर कह ही तो बैठते हैं—'जी, सब कुछ ठीक है, आप

तकलीफ़ न करें !

लेकिन उनके लिए क्या किया जाय जिन्हें हमने ग़लती से, अनजाने में ही, बचपन में दोस्त मान लिया नहीं, कह दिया था ! जो हमारे रौब को रौब नहीं समझते, प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठा नहीं मानते और हमारी मुसीबत में हँस-हँसकर मज़ा लेते हैं । असल में हाथ हम इन्हीं लोगों के आते हैं ! जो न चिट्ठी देते हैं, न जिन्हें हमसे कुछ पूछने की ज़रूरत है और हम चाहे पाताल में छिपकर क्यों न बैठ जाएँ, वे हमारी खोज निकालने में एकदम शैतान की तरह समर्थ हैं । हमको तो पता चलेगा पीछे, इससे पहले ही बैठक पर सदल-बल उनका कब्ज़ा होचुका होगा ! उन्हें रोक भी कौन सकता है ? कम्बख़्त, घर में घुसते ही हमारे बच्चों को अपना भतीजा बना लेंगे हमारी मा के पहले ही झुककर चरण छू लेंगे और नौकर को इस अधिकार से हुक्म देंगे, जैसे वह तनख़्वाह हर महीने इन्हीं से पाता है !

इन लोगों का इलाज सच पूछिए, हमारे पास नहीं । इसकी दवा दरअसल हमारी देवीजी के पास है । मेहमान के घर में आते ही 'वे' वह रूप धारण करती हैं कि कभी-कभी तो हमको भी यह पहचानने में देर लग जाया करती है कि आख़िर यह हमारे ही बच्चे की मा है या कोई और ?

अक्सर मेहमान के घर में दाख़िल होते ही 'वे' बीमार होजाया करती हैं । उनके स्वभाव में रूखापन भी उन दिनों कुछ अधिक आ जाता है । औसतन हमारे घर में बच्चे उन दिनों ज़्यादा पिटा करते हैं बर्तन अधिक टूटा करते हैं और 'दाल-साग' में मिर्चें अपनी उपस्थिति ज़ोर-शोर से सूचित किया करती हैं । मेहरी का इन दिनों प्राय: जवाब दे दिया जाता है और हमारी श्रीमतीजी जो आये दिन घर की देहली के बाहर पैर नहीं निकालतीं तीन-तीन, चार-चार घंटे सहेलियों के यहाँ जाकर ताश खेलने में अपने बेकार समय का सदुपयोग किया करती हैं !



"आपको तो पता चलेगा पीछे। इससे पहले ही आपकी बैठक पर सबस-बस उनका कब्ज़ा हो चुका होगा।" (पृष्ठ ५४)

तकलीफ न करें !'

लेकिन, उनके लिए क्या किया जाय जिन्हें हमने ग़लती से मनमाने में ही, बचपन में दोस्त मान लिया, नहीं, कह दिया था ! जो हमारे रौब को रौब नहीं समझते, प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठा नहीं मानते और हमारी मुसीबत में हँस-हँसकर मजा लेते हैं । असल में हाय हम इन्हीं लोगों के मारे हैं ! जो न चिट्ठी देते हैं, न जिन्हें हमसे कुछ पूछने की जरूरत है और हम चाहे पाताल में छिपकर क्यों न बैठ जाएँ, वे हमारी खोज निकालने में एकदम शैतान की तरह समर्थ हैं । हमको तो पता चलेगा पीछे, इससे पहले ही बैठक पर सदल-बल उनका कब्ज़ा होचुका होगा ! उन्हें रोक भी कौन सकता है ? कम्बख्त घर में घुसते ही हमारे बच्चों को अपना भतीजा बना लेंगे, हमारी मा के पहले ही झुककर चरण छू लेंगे और नौकर को इस अधिकार से हुक्म देंगे जैसे वह तनख्वाह हर महीने इन्हीं से पाता है !

इन लोगों का इलाज सच पूछिए, हमारे पास नहीं । इनकी दवा दरअसल हमारी देवीजी के पास है । मेहमान के घर में आते ही 'वे' *वह रूप धारण करती हैं कि कभी-कभी तो हमको भी यह* पहचानने में देर लग जाया करती है कि आखिर यह हमारे ही बच्चे की मा है या कोई और ?

अक्सर मेहमान के घर में दाखिल होते ही 'वे' बीमार होजाया करती हैं । उनके स्वभाव में रूखापन भी उन दिनों कुछ अधिक आ जाता है । औसतन हमारे घर में बच्चे उन दिनों ज्यादा पिटा करते हैं बर्तन अधिक टूटा करते हैं और साग-पात में मिर्चें अपनी उपस्थिति ज़ोर-शोर से सूचित किया करती हैं । मेहरी को इन दिनों प्रायः जवाब दे दिया जाता है और हमारी श्रीमतीजी जो आये-दिन घर की देहली के बाहर पैर नहीं निकालतीं, तीन-तीन, चार चार घंटे सहेलियों के यहाँ जाकर ताश खेलने में अपने बेकार समय का सदुपयोग किया करती हैं !



"आपको तो पता चलेगा पीछे। इससे पहले ही [illegible] इसका कब्ज़ा होचुका होगा!" (पृष्ठ ३८)

हमारे घर में यह दृश्य देखने लायक होता है कि जब मेहमान नहाने के लिए लोटा माँगते हैं तो उन्हें कटोरी मिलती है। लगाने को साबुन माँगते हैं तो उन्हें कपड़े धोने का डंडा पकड़ा दिया जाता है। पोंछने को तौलिया माँगते हैं तो सरसों के तेल की बोतल बढ़ा दी जाती है। कहते हैं कि भगवान शिव समुद्र में से निकले विष को कंठ में उतार गए थे लेकिन वे दिल्ली में हमारे मेहमान बनकर आएँ, मेरी चुनौती है कि विष तो दूर, वे हमारी यहाँ की अमृतोपम चाय तक को गले के नीचे नहीं उतार सकते। न जाने किस बजरी से छान-छान कर श्रीमतीजी इसमें मेहमानों के लिए कुटकियाँ मिलाती हैं कि खाने वाले को छठी का दूध याद आजाता है और आगे से मेरे यहाँ खाना तो दरकिनार भले आदमी दिल्ली की तरफ़ भी पैर करके सोने की हिम्मत नहीं कर पाते।

आप शायद मुझे और मेरी श्रीमतीजी को कोसें और कहें कि हम भी क्या मनहूस आदमी हैं जो मेहमान से यों बिदकते हैं। यह तो असामाजिकता है। फूहड़पन है। खुदगर्ज़ी है। ऐसा आदमी सभ्य समाज में सभ्य कहलाने लायक है।

तो मैं आपसे विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहता हूँ कि अपनी सभ्यता आप अपने पास ही रहने दें। मैं हरगिज़ भी इन बातों में आने वाला आसामी नहीं हूँ।

हाँ, मैं यह जानता हूँ कि मेहमानों की खातिर कर-करके लोग बड़े ऊँचे पदों पर पहुँच गए हैं। अपनी मेहमाननवाज़ी के कारण ही आज बहुत-से साधारण आदमी नेता बने हुए हैं। लोगों को चाय पिला-पिलाकर वकीलों ने अपनी वकालत जमा ली है, डाक्टरों के रोगी बढ़ गए हैं, लेखकों की रचनाएँ सम्पादकों को पसन्द आने लगी हैं। यही नहीं बेकार बाकार होगए हैं ठेकेदारों की चाँदी-ही-चाँदी है। कहाँ तक कहूँ चोरबाज़ार करने वालों ने भी अपनी मिलनसारी और मेहमाननवाज़ी से लाखों के वारे-न्यारे कर डाले हैं।

तो क्या आप समझते हैं कि मेरे मन में ऐसा कोई अरमान

नहीं है ?

है। जरूर है। पर भाई मेरे, मैं कुछ अपनी, और कुछ अपनी 'धन'की पकी हुई, भामी सुनहली आदतों से मजबूर हूं! हां ऐसे नुस्खे की तलाश में अवश्य हूं जिससे बिना शारीरिक और आर्थिक कष्ट उठाए, मेहमान की जाति का पूरा-पूरा फायदा उठाया जा सके। आप जानते हों तो बताएं। नहीं तो भगवान कभी-न-कभी सुनेंगे ही!

६

नौकर के मारे

"चतुर बुआ ने इस कमाल से घर में अपनी 'पोजीशन' मजबूत की है कि अगर हम उससे कुछ कहते हैं तो उसकी 'बीबीजी' हमारे सिर होजाती हैं, और बीबीजी ही कभी उसे डाँटने लगती हैं तो बच्चे घर पर आसमान उठा लेते हैं। कभी-कभी सोचता हूँ कि यह तो खैर हुई जो बुआ ने पिछले आन्दोलनों में भाग नहीं लिया! सच कहता हूँ कि अगर वह कहीं राजनीति में पड़ गया होता तो आज कहीं का 'मिनिस्टर' हुआ होता!"

हमको तो भगवान् ने नाहक मनुष्य बनाया ! यह भटकी हुई जीवात्मा तो किसी भी पशु-पक्षी के चोले में आसानी से फिट हो सकती थी । भला बताइए, जन्म मिले मनुष्य का और सामना करना पड़े मुसीबतों का ! यह भी कोई बात हुई ?

पर खैर, जब सातवें आसमान पर बैठे हुए अल्लाताला और कमल की पतली डंडी पर आसन जमाए हुए बूढ़े ब्रह्मा बाबा ने बिना विमान-यात्रियों से सलाह लिये हुए आदमी बना ही डाला तो कम-से-कम उन्हें इतनी कृपा तो करनी ही चाहिए थी कि इस ५ फुट ६ इंच के बिना पंख-पूंछ वाले प्राणी को और सब नियामतें बख्शते पर मेहरबानी करके उसे अक्ल तो नहीं ही देनी चाहिए थी । इस ग़रीब को अक्ल क्या मिली, यह समझिए कि सब-कुछ चौपट होगया !

अब अक्ल के मारे इस आदमी की कोई एक मुसीबत हो तो बयान की जाय । कोई एक परेशानी हो तो उसका ज़िक्र भी हो । इस समय तो हाल यह है कि इस कमबख्त ने अपने ऊपर बुद्धिमानी का लिहाफ़ इस क़दर लपेट लिया है कि उसकी सही सूरत कहीं नज़र हो नहीं आती !

एक युग था जब वह गुफाओं में आराम से रहता, शिकार करता और ठाठ से पड़ा-पड़ा खुर्राटे भरा करता था—न ऊधौ का लैन न माधौ का दैन ! पर अक्ल जो आई तो सब गुड़गोबर हो गया ! सभ्यता आई, सोसाइटी आई, समाज बना और इरज़्ज़ आबरू की चाह होने लगी । इस सब का परिणाम हुआ कि मकड़ी अपने जाल में खुद ही उलझ गई ! अब तो हाल यह है कि आदमी समाज से परेशान है, सभ्यता से परेशान है और सोसाइटी से

परेशान है ! और-तो-और अपने बीवी-बच्चों से भी उसे चैन नसीब नहीं ! परेशानी की इस कहानी का सिलसिला यहीं समाप्त नहीं होता ! आप हैरान होंगे कि जिसे आज रखा और कल निकाला जा सकता है, उस नौकर के मारे भी आदमी की नाक में दम है !

नौकर और नाक में दम ! आप भी कहेंगे—भई यह भी एक ही रही ! पर यक़ीन मानिए इसमें तिल-भर भी झूठ नहीं है। नौकर की परेशानी आज सबसे बड़ी परेशानी है।

हालांकि लड़ाई और मँहगाई ने लोगों का कचूमर निकाल रखा है और हाल पतला क्या कहूँ, करीब-करीब खस्ता होचला है मगर मटा हाथी भी, आप जानते हैं विटौरा होता है। पुश्तैनी रईसी आदमी की क्या कभी जाती है ? कुछ और न हो घर में कम-से-कम एक नौकर तो होना ही चाहिए !

और साहब, आप कुछ भी कहें बिना नौकर के आज के हम 'जैन्टिलमैन' काम भी तो नहीं चला सकते। माना कि साक भाजी आप खुद ही ले आते हैं, और माना कि आपको खुद ही बाजार से सौदा-सुलुफ करने का शौक है, लेकिन यह तो बताइए कि आप कोट-पैन्ट पहनने वाले नकद १२५) माहवार के बाबू, क्या चक्की पर खुद आटा पिसाने जाना मन्जूर करेंगे ?

मान लिया कि यह काम भी आप साइकिल के कैरियर पर कनस्तर टिकाकर, जरा गर्दन झुकाकर आसानी से कर लेते हैं और मान लिया कि क्लाथ राशन की दूकान से कपड़ा आपकी श्रीमतीजी खुद ही आपसे साथ पर्दे अच्छा से आती हैं, और यह भी माना कि हफ्ते का राशन भी आप नमक-मिर्च की तरह आसानी से झोले में दबा लाते हैं, लेकिन यह तो बताइए, उस एक बोतल मिट्टी के तेल के लिए कनस्तरी पकड़कर आप दोनों में से कौन तीन घंटे तक लाइन में लगने को तैयार है ? जहाँ तक मेरा सवाल है मैं तो अन्धेरे में राम नाम जपना ज्यादा पसन्द करूँगा, बजाय इसके कि श्रीमतीजी से इसकी चर्चा करूँ और अपनी शामत को खुद ही दावत दूँ ! मेरे बारे

में तो आप हमेशा के लिए ध्यान रखिए कि मैं तो १०० पर्दों फूट जाने पर ही किसी काम के करने को राजी होता हूँ नहीं तो अपना भावधा तो यह है

अजगर करें न चाकरी पंछी करें न काम।
दास (नहीं ध्यास) मलूका कह गए सबके दाता राम॥

फिर आप ही बताइए कि हम-जैसे दो-चार यार-दोस्त जब आपके यहाँ दर्शन देने खुद ही तशरीफ से आएँ तो भले आदमी होने के कारण आप कुछ न सही, उन्हें गरम पानी पिलाना तो अपना फ़र्ज समझेंगे ही ? अब बताइए कि उस समय आप क्या खुद ही लकड़ी माफ करेंगे और दूध खत्म होगया तो मेहमानों पर सूना घर छोड़कर खुद ही दौड़े-दौड़े बाजार जाएँगे ? कभी नहीं। उस समय तो आपको मेरी ही तरह मेज पर टाँगें फैलाकर 'बुद्धा' को ही आवाज देना अधिक पसन्द आएगा।

या छोड़िए, इस २०वीं सदी में दोस्तों को आप ज्यादा मुँह लगाना पसन्द नहीं करते, लेकिन मुझे पूरा विश्वास है कि आपकी श्रीमतीजी आपके इस आदर्श के पीछे अपनी सहेलियों को नहीं छोड़ सकतीं। 'वे' उनके यहाँ ठाठ से जाएँगी और उन्हें अपने यहाँ सादर बुलाएँगी भी ! जहाँ तक श्रीमतीजी का सम्बन्ध है, आप बला से फटे-हाल रहें मगर 'वे' घर से बाहर, खास तौर पर सहेलियों या रिश्तेदारों के सामने अपने 'स्टेन्डर्ड' को तनिक भी गिरा हुआ बर्दाश्त नहीं कर सकतीं।

अब आप खुद पसन्द कर लीजिए कि जब 'वे' अपनी सहेलियों के यहाँ जाने लगें तो फल-मिठाई की टोकरियों के साथ छोटे मुन्ने को सम्भालने के लिए आप एक सेवक की आवश्यकता अनुभव करते हैं या ऐसे भावुक मौके पर खुद स्वयंसेवक बन सकने की हिम्मत आप में है ?

तो इन्हीं महासङ्कटों से पार पाने के लिए हमने अपने यहाँ बाबू बुद्धिसेन बनाम बुद्धा को, नौकर क्या कहें, मालिक रख

छोता है !

बुद्धा साहब जब आए आए थे तो इनकी सेवा-चाकरी का क्या कहना ? पहले उठना, बाद में सोना कम खाना और जो दे दें उसीमें मगन रहना ! कोई एक खूबी हो तो कहीं जाय ? काम करने में चुस्ती और मुस्तैदी तो इस कदर थी कि कहे पर काम किया तो क्या किया ? इशारों पर नाचते थे, इशारों पर !

कुछ ही दिनों में हजरत हमारे परिवार के अंग बन गए। हम उन पर प्रसन्न रहने लगे। उनकी 'बीबीजी' का दुलार उन्हें प्राप्त होगया। बच्चे उनसे हिल गए। हमारे घर-बाहर की कुंजी उन्हें मिल गई।

यह समझिए कि हम बुद्धा के भरोसे निश्चिन्त होगए। लेकिन जिस दिन से हमारी निश्चिन्तता की बात बुद्धा की बुद्धि में भी आगई बस, उसी दिन से वह भी हम से निश्चिन्त होगया !

बुद्धा ने धोती छोड़कर पाजामा अपनाया तो हम खुश हुए, और जब उसने हमारी मखमली पतलून पर भी एक दिन हाथ साफ किया तो हमने गिला नहीं किया लेकिन जब उसने एक दिन यह कहा कि बाबूजी २०) में मेरा काम नहीं चलता या तो ३५) कीजिए, नहीं मुझे किसी और को बाबूजी कहना पड़ेगा तो हमारे कान एकदम खरगोश की तरह खड़े होगए !

पर क्योंकि बुद्धा के बिना हम अपंग थे, इसलिए जैसे मौसी बिल्ली चूहों से कान कटाती है, वैसे ही हमने चुपचाप ३०) पर समझौता कर लिया और पुण्य लूटने की खातिर अपने मन में यह भी सोच लिया—आखिर २०) से आजकल होता भी क्या है ?

लेकिन बुद्धा कोई बुद्धू तो है नहीं ! वह फौरन हमारी नस पहचान गया ! अब तो वह कम्बख्त काम के नाम से ही नहीं आता। दो-दो, तीन-तीन आवाजें पीजाना तो उसके बाएं हाथ का खेल है। चौथी-पांचवीं आवाज पर भी तबियत हुई तो हाजिर हुआ, और नहीं हुई तो जैसे हमारे घरों में स्त्रियां फकीरों को

'हाथ खाली नहीं हैं' कहकर टाल देती हैं, वैसे ही बाबूजी ने आवाज दी तो 'बीबीजी का काम कर रहा हूँ', और बीबीजी ने आवाज दी तो 'बाबूजी का काम कर रहा हूँ' कहकर वह टाल जाता है कि कुछ कहते नहीं बनता ।

चतुर बुद्धा ने इस कमाल से घर में अपनी पोजीशन मजबूत की है कि अगर हम उससे कुछ कहते हैं तो उसकी 'बीबीजी' हमारे सिर होजाती हैं और बीबीजी ही कभी उसे डाटने लगती हैं तो बच्चे घर पर आसमान उठा लेते हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि यह तो खैर हुई, जो बुद्धा ने पिछले आन्दोलनों में भाग नहीं लिया। सच कहता हूँ कि अगर वह कहीं राजनीति में पड़ गया होता तो आज कहीं का 'मिनिस्टर' हुआ होता ।

अभी पिछले दिनों की बात है चार दोस्त घर पर आगए। हमने बुद्धा से कहा, "जा, पानी गरम करने को रख दे और अपनी बीबीजी से बोल कि चाय के लिए कुछ फुर्ती से तैयार कर दें।"

बुद्धा को शायद उस वक्त सिनेमा जाना था। उसे बे-वक्त की यह खातिरदारी पसन्द नहीं आई। बोला, "बाबूजी, पानी तो अभी रखे देता हूँ पर बीबीजी की तबियत आज कुछ ठीक नहीं है।"

मैं जानता था कि उनकी तबियत को कुछ भी नहीं हुआ। पर बुद्धा से क्या वह समझता था बोला, "जा, देख तो सही, तबियत ठीक है।

वो दोस्तों की तरफ मुंह करके निहायत भला आदमी-सा बन कर बोला, "बाबूजी तो घर की बिलकुल परवाह नहीं करते। कई दिन से उनकी तबियत खराब चल रही है। पर वह तो यों कहो कि बीबीजी साक्षात् लक्ष्मी का अवतार हैं, जो किसी से कुछ कहती सुनती नहीं। आज जब बिलकुल तबियत गिर गई है तो क्या करें ? इस कदर सिर में दर्द और हरारत है कि मैं कुछ कह नहीं सकता।'

दोस्त लोग चाय को भूल गए और उलटा मुझे ही लस्त-सुस्त



आइए बाबू वृषसेन आप क्यों तकलीफ करते हैं। यहाँ विराजिए ! लीजिए, जल पीजिए।" (पृष्ठ ४२)

'हाथ खाली नहीं हैं' कहकर टाल देती है वैसे ही बाबूजी ने आवाज दी तो 'बीबीजी का काम कर रहा हूँ' और बीबीजी ने आवाज दी तो 'बाबूजी का काम कर रहा हूँ' कहकर वह टाल बताता है कि कुछ कहते नहीं बनता !

चतुर बुद्धा ने इस कमाल से घर में अपनी पोजीशन मजबूत की है कि अगर हम उससे कुछ कहते हैं तो उसकी 'बीबीजी' हमारे सिर होजाती हैं और बीबीजी ही कभी उसे डाटने लगती हैं तो बच्चे सर पर आसमान उठा लेते हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि यह तो खैर हुई, जो बुद्धा ने पिछले आन्दोलनों में भाग नहीं लिया। सच कहता हूँ कि अगर वह कहीं राजनीति में पड़ गया होता तो आज कहीं का 'मिनिस्टर' हुआ होता।

अभी पिछले दिनों की बात है, चार दोस्त घर पर आगए। हमने बुद्धा से कहा, "जा पानी गरम करने को रख दे और अपनी बीबीजी से बोल कि चाय के लिए कुछ फुर्ती से तयार कर दें।"

बुद्धा को शायद उस वक्त सिनेमा जाना था। उसे बे-वक्त की यह ताबिरदारी पसन्द नहीं आई। बोला, "बाबूजी, पानी तो अभी रखे देता हूँ, पर बीबीजी की तबियत आज कुछ ठीक नहीं है।"

मैं जानता था कि उनकी तबियत को कुछ भी नहीं हुआ। पर बुद्धा से क्या कह सकता था, बोला, "जा, देख तो सही, तबियत ठीक है।"

तो दोस्तों की तरफ मुँह करके निहायत भला आदमी-सा बन कर बोला, 'बाबूजी तो घर की बिलकुल परवाह नहीं करते। कई दिन से उनकी तबियत खराब चल रही है। पर वह तो मैं कहूँ कि बीबीजी साक्षात् लक्ष्मी का अवतार हैं जो किसी से कुछ कहती सुनती नहीं। आज जब बिलकुल तबियत गिर गई है तो क्या करें? इस कदर सिर में दर्द और हरारत है कि मैं कुछ कह नहीं सकता।"

दोस्त लोग चाय को भूल गए और उलटा मुझे ही सस्त-सुस्त



"आइए बाबू पुखमेन आप क्यों तकलीफ करते हैं। यहाँ बिराजिए! लीजिए, जल पीजिए।" (पृष्ठ ५२)

'हाथ खाली नहीं हैं' कहकर टाल देती हैं, वैसे ही बाबूजी ने आवाज दी तो 'बीबीजी का काम कर रहा हूँ', और बीबीजी ने आवाज दी तो 'बाबूजी का काम कर रहा हूँ', कहकर यह टाल बताता है कि कुछ कहते नहीं बनता !

चतुर बुद्धा ने इस कमाल से घर में अपनी पोजीशन मजबूत की है कि अगर हम उससे कुछ कहते हैं तो उसकी 'बीबीजी' हमारे सिर होजाती हैं और बीबीजी ही कभी उसे डाटने लगती हैं तो बच्चे घर पर आसमान उठा लेते हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि वह तो खैर हुई, जो बुद्धा ने पिछले आन्दोलनों में भाग नहीं लिया। सच कहता हूँ कि अगर वह कहीं राजनीति में पड़ गया होता तो आज कहीं का 'मिनिस्टर' हुआ होता !

अभी पिछले दिनों की बात है, चार दोस्त घर पर आगए। हमने बुद्धा से कहा "जा पानी गरम करने को रख दे और अपनी बीबीजी से बोल कि चाय के लिए कुछ फुर्ती से तैयार कर दें।"

बुद्धा को शायद उस वक्त सिनेमा जाना था। उसे बे-वक्त की यह खातिरदारी पसन्द नहीं आई। बोला, 'बाबूजी, पानी तो अभी रखे देता हूँ, पर बीबीजी की तबियत आज कुछ ठीक नहीं है।'

मैं जानता था कि उनकी तबियत को कुछ भी नहीं हुआ। पर बुद्धा से क्या कह सकता था, बोला, "जा, देख तो सही, तबियत ठीक है।"

तो दोस्तों की तरफ मुँह करके निहायत भला आदमी-सा बन कर बोला, "बाबूजी तो घर की बिलकुल परवाह नहीं करते। कई दिन से उनकी तबियत खराब चल रही है। पर वह तो यों कहो कि बीबीजी साक्षात् लक्ष्मी का अवतार हैं, जो किसी से कुछ कहती सुनती नहीं। आज जब बिलकुल तबियत गिर गई है तो क्या करें ? इस कदर सिर में दर्द और हरारत है कि मैं कुछ कह नहीं सकता।"

दोस्त लोग चाय को भूल गए और उलटा मुझे ही सुस्त-सुस्त



"आइए बाबू बुधसेन आप क्यों तकलीफ करते हैं। यहाँ विराजिए! लीजिए, जल पीजिए।" (पृष्ठ ४२)

कहने लगे। बेचारे अपना-सा मुँह लेकर लौट गए। मुझे ऐसा गुस्सा आया कि बुद्धा को अभी गोली मार दूँ। तभी श्रीमतीजी कहने लगीं 'रहने भी दो आखिर अपना क्या बिगड़ा मँहगाई के जमाने में कुछ बचाया ही तो।'

झुँझलाकर कई बार सोच चुका हूँ कि इसे जवाब दे दिया जाय। पर जब-जब यह सवाल उठता है तब-तब अक्सर घर की 'कैबिनेट' में फूट पड़ जाती है। जब कभी पति होने के नाते मैं अपने 'वीटो' का प्रयोग करना चाहता हूँ तो सोचता हूँ कि आखिर नौकर के बिना भी तो काम चल नहीं सकता। न जाने कौन कैसा आए और आए-ही-आए इसकी क्या गारण्टी है?

फिर बुद्धा की खूबियों का भी ख्याल आता है। वह सब-कुछ हो, चोर नहीं है। उसे ऐतराज तो छू भी नहीं गया। 'पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर' वाली जो कहावत है, सोचता हूँ—वह बुद्धा जैसे लोगों को देखकर ही ईजाद हुई होगी।

पर क्या कहूँ आजकल बुद्धा के पर निकल आए हैं। कामचोर तो क्या वह मौजी होगया है। बिलकुल ऐसा जैसा हिन्दी का कलाकार। उसके मन में आए तो कोल्हू के बैल की तरह दिन भर लगा रहे और मन में न आए तो बुखार का बहाना करके वह लम्बी ताने कि कुम्भकरण भी मात खा जाए। कहो तो उससे चाहे जो कहे जाओ गीता के स्थितप्रज्ञ की तरह सुनता रहे और चेहरे पर एक शिकन भी न आने दे और न कहो तो वह 'कम्युनिस्ट' बन जाय कि मारे तर्क-कुतर्कों के आपका बोल बन्द कर दे। कभी तो आपको वह इज्जत बख्शे कि आप थोड़ी देर के लिए खुद को दूसरा शहंशाह समझने लगें और कभी ऐसी किरकिरी करे कि आपको कहीं मुँह दिखाने की भी गुंजायश न रहे।

अब आपसे क्या कहूँ? हाल यह है कि न उसे निकाले बन है, न रखे बन है। और वह भी भला आदमी न जाने का नाम लेता है और न ढंग से रहने की ही बात करता है। शायद यह जो कहावत है कि 'मुझको और न तुझको ठौर', वह हमारे बुद्धा के मामले में सोलहों आने सही है।

धन्धे-रोजगार आपने बहुत देखे-सुने होंगे, लेकिन जिस अनूठे व्यवसाय की तरफ मैं इशारा करना चाहता हूँ, वह ऐसा व्यवसाय है कि दुनिया में उसकी मिसाल ढूँढे नहीं मिल सकती !

सोने-चाँदी के सट्टे से लेकर नमक-मिर्च की दूकानदारी तक जितने भी धन्धे आज प्रचलित हैं, उन सब में थोड़ी-बहुत पूँजी की आवश्यकता होती ही है। लेकिन जिस रोजगार के बारे में मैं अभी आपसे जिक्र करूँगा, उसमें पूँजी की बिलकुल ही आवश्यकता नहीं। सचाई तो यह है कि पूँजी का होना ही इस रोजगार को उलटा हानि पहुँचा सकता है।

कोई काम लेकर बैठिए, एक ठीया तो चाहिए-ही-चाहिए। मतलब यह कि दूकान या गोदाम हो, आफिस या कमरा हो। लेकिन आप जानते हैं कि आजकल घूमने पर माल मिल सकता है, भागने पर बहादुरी मिल सकती है, मगर रहने को मकान कहीं नहीं मिल सकता। पर वाह रे मेरे नए रोजगार ! इसमें आपको किसी किस्म के मकान, दूकान या साइनबोर्ड की कतई आवश्यकता नहीं। बिना किसी 'लेटरहेड' या लिफाफे के, आपकी खतो-किताबत जारी रह सकती है और बिना 'कैशमीमो' काटे, आप इस नए बाजार में साहूकार हो सकते हैं।

यहाँ इस बात की भी आवश्यकता नहीं कि आप टीमटाम से रहें और कुछ पढ़े-लिखे-से भी दिखाई दें ! यह रोजगार तो चन्द चतुरों ने वह कमाल का निकाला है कि आप जितने अधिक फटे-हाल होंगे, जितने अधिक अस्त-व्यस्त दिखाई देंगे और जितनी अधिक अटपटी या बेतुकी बात कर सकेंगे, उतने ही अधिक मुनाफे में रहेंगे।

मजाक नहीं करता। मेरी बातों को आप येसफिस्मीपम न

गीत लिखें तब यह अवश्य समझ लें कि इसे पढ़ने वाले सब-के-सब अज्ञानी नहीं तो कम-से-कम आपसे तो कम-अक्ल जरूर ही हैं, और कुछ न सही, उनके अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए ही आपका लिखते रहना बड़ा जरूरी है। आवश्यकता इस बात की भी है कि जब आप अपनी अनमोल रचनाएँ सुनाएँ तो सुनने वाला चाहे एक हो या हजार, आपके हाव-भाव और स्वर में फर्क नहीं पड़ना चाहिए। यही नहीं, आपको हर समय यह बोध रहना चाहिए कि सारा समाज तृणवत् है और यदि किसी चीज की अहमियत है तो बस अपने अहम् की।

कविता लिखने के लिए यह बिलकुल आवश्यक नहीं कि आप पिंगल पढ़े हों या आपने रीति-अलंकारादि का अध्ययन किया हो अथवा नये-पुराने कवियों की सोहबत ही उठाई हो। आवश्यक सिर्फ यह है कि ऐसी पंक्तियाँ, चाहे तो आप स्वयं जोड़ सकते हों, या अगर सुभीता और पकड़े जाने का खतरा न हो तो दूसरों की भी ले सकते हों कि जिनसे तालियाँ बज सकें!

बस, तालियाँ पिटना ही आपकी सफलता की चरम कसौटी है! वह नेता ही क्या कि जिसके भाषण में तालियों की गड़गड़ाहट से शामियाने न उखड़ जाएँ, वह नर्तकी ही क्या जो पिटावे-पिटाते दर्शकों के हाथ लाल न करदे और वह कवि भी क्या जिसकी कविता पर भूचाल न आए, हँगामा न होजाए!

तालियाँ बजवाने का भी अपना एक अलग 'आर्ट' होता है। कवि-सम्मेलनों में तालियाँ वही अधिक पिटवा सकता है, जिसने राम कृपा से कला से अधिक गला पाया हो, जो कवि से अधिक जो एक्टर हो, शाश्वत से अधिक सामयिक हो मौलिक से अधिक रसिक बनने की कोशिश में सफल होगया हो!

क्या कला और क्या गला! हम तो यह मानते हैं कि ये सब चीजें आत्मविश्वास के वशीभूत हैं। मेरे पास कला और गला मांजने का एक रामबाण उपाय है! वह यह है कि आप

चीज सिर्फ तब यह अवश्य समझ लें कि इसे पढ़ने वाले सब-के-सब अज्ञानी नहीं तो कम-से-कम आपसे तो कम-अक्ल जरूर ही हैं, और कुछ न सही, उनके अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए ही आपका लिखते रहना बड़ा जरूरी है। आवश्यकता इस बात की भी है कि जब आप अपनी अनमोल रचनाएँ सुनाएँ तो सुनने वाला चाहे एक हो या हजार, आपके हाव भाव और स्वर में फर्क नहीं पड़ना चाहिए। यही नहीं, आपको हर समय यह बोध रहना चाहिए कि सारा समाज एहसानमंद है और यदि किसी चीज की महरूमियत है तो बस अपने अहम् की।

कविता लिखने के लिए यह बिलकुल आवश्यक नहीं कि आप पिंगल पढ़े हों या आपने रीति-अलंकारादि का अध्ययन किया हो, अथवा नये-पुराने कवियों की सोहबत ही उठाई हो। आवश्यक सिर्फ यह है कि ऐसी पंक्तियाँ, चाहे तो आप स्वयं जोड़ सकते हों, या अगर सुभीता और पकड़े जाने का खतरा न हो तो दूसरों की भी ले सकते हों कि जिनसे तालियाँ बज सकें!

बस, तालियाँ पिटना ही आपकी सफलता की चरम कसौटी है! वह नेता ही क्या कि जिसके भाषण में तालियों की गड़गड़ाहट से शामियाने न उखड़ जाएँ, वह नर्तकी ही क्या जो पिटाते-पिटाते दर्शकों के हाथ लाल न करदे और वह कवि भी क्या जिसकी कविता पर तूफान न आए, हँगामा न होजाए!

तालियाँ बजवाने का भी अपना एक अलग 'आर्ट' होता है। कवि-सम्मेलनों में तालियाँ वही अधिक पिटवा सकता है, जिसने राम कृपा से कला से अधिक गला पाया हो, जो कवि से अधिक ऐक्टर हो, शाश्वत से अधिक सामयिक हो, मौलिक से अधिक रसिक बनने की कोशिश में सफल होगया हो!

क्या कला और क्या गला! हम तो यह मानते हैं कि ये सब चीजें आत्मविश्वास के वशीभूत हैं। मेरे पास कला और गला मांजने का एक रामबाण उपाय है! वह यह है कि आप



"आप मेरी तरह एक आदमकद आइना अपनी बैठक में लगाइए, कविता लेकर उसके सामने बड़ी शान से खड़े हो जाइए और समझ लीजिए कि घर में ही कवि-सम्मेलन होरहा है।" (पृष्ठ ५१)

दूर किसी जगल में, एक पक्के कुँए में, पैर लटकाकर बैठ जाइए। सिर झुकाकर उस देवता को प्रणाम कीजिए और कहिए आ ऽऽऽ! बस, उत्तर में कुँआ भी आपसे कहेगा, "आ ऽऽ प्यारे भाई, आ ऽऽ!" इस प्रकार लगातार कुँए में मुँह देकर आप स्वर-सधान किए जाइए और उस अकेले कुँए को अपने स्वर-बाणों से भर दीजिए। थोड़ी ही देर में यक़ीन मानिए, आपको विश्वास हो जाएगा कि सचमुच आपकी आवाज़ में भी बड़ा दम है और सहगल तो मर ही गए अब दूसरा कौन है जो आपसे बाज़ी ले सके! आपको लगेगा कि कुँए की आवाज़ों से सगीत की लहरें-सी फूट रही हैं उन लहरों से ऋचाएँ-सी निकल रही हैं, उन ऋचाओं से कुछ अर्थ से प्रतिभासित होरहे हैं और उन अर्थों को व्यक्त करने की सामर्थ्य किसी भी कर्महीन आलोचक में नहीं है।

अगर आपके आसपास कोई कुँआ न हो और उसमें डूब मरने का खतरा भी आपके सामने हो तो फिर आप मेरी तरह से एक आदम-क़द शीशा अपनी बैठक में लगाइए। कविता लेकर उसके सामने बड़ी शान से खड़े होजाइए और समझ लीजिए कि घर में ही कवि-सम्मेलन होरहा है।

इस प्रकार की साधना के बाद निश्चय ही आपको यह विश्वास होजाएगा कि आपमें कवि बनने की वह सब खूबियाँ हैं जो वाल्मीकि या व्यास में थीं, भास या कालिदास में थीं सूर या तुलसीदास में थी। आप जानते ही हैं कि आत्मविश्वास दुनिया में बहुत बड़ी चीज़ है। जिस दिन आपको यह विश्वास होगया कि आप कवि हैं बस उसी दिन समझ लीजिए कि दुनिया की कोई शक्ति आपको कवि बनने से नहीं रोक सकती। एक नहीं लाख बनारसीदास या रामविलास आपके पीछे पड़ें करोड़ों कालिज के लड़के आपका मज़ाक बनाएँ, हज़ार ईर्ष्यालु आपको तुक्कड़ कहें मगर कोई आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

हाँ, आपको नयेपन के पीछे अवश्य दौड़ना पड़ेगा ताकि लोग

यह कह सकें कि बात कुछ सुन्दर और अभूतपूर्व तो है, लेकिन वह सुन्दरता और नयापन दूरबीन से देखने पर भी दिखाई न पड़े।

तो मैंने कहा जितनी भी अटपटी चमत्कारिक बेतुकी और मुक्त वाणी आप कह सकते हैं, आप उतने ही बड़े कवि करार दिए जा सकते हैं।

अब आप शायद यह कहने लगें कि यह तो बड़ा आसान है। मान लीजिए हम कवि बन गए, मगर इसमें रोजगार कहाँ है? यह तो बेकारी का धन्धा है, जनाब!

तो मैं कहूँगा कि श्रीमानजी वह जमाना तो लद गया जब खलीसदी फ़ाक़ा उड़ाया करते थे अब तो कवियों की चाँदी-ही चाँदी है। इस पिछली लड़ाई में जो बहुत-से उद्योग-धन्धों का विकास हुआ है उनमें एक कवि-सम्मेलन का रोजगार भी है जो बड़ी तेजी से फैल रहा है और पनप रहा है, और क्योंकि इस ओर अभी भारत के बड़े-बड़े उद्योगपतियों की निगाह नहीं गई है इसलिए अभी इसमें छुटभइयों को मुनाफ़ा-ही-मुनाफ़ा है।

आजकल यह रोजगार पूरी तेजी पर है। किसी की जयन्ती हो या कोई कहीं स्वर्गलोक जा पहुँचा हो। कहीं किसी वीर प्रसविनी ने कायर को जन्म दिया हो या किसी नानकचंद के नाक-कान छेदे जा रहे हों। मारवाड़ी मित्र-मण्डल का जलसा हो या धर्मदारों ने अपनी चौदस मनाई हो—कार्यक्रम में आपको कवि-सम्मेलन अवश्य दिखाई दे जाएगा।

कवि-सम्मेलनों के लिए आपको चाहिए भी क्या? बस एक जोड़ी पोशाक और एक जोड़ी कविता। इन्हीं दो जोड़ियों के बल पर आप कवि-सम्मेलन का दंगल फ़तह कर सकते हैं। दंगल फ़तह होगया तो ठीक है ही नहीं फीस-किराया तो पिट जाने पर भी मिल जाता है। मगर कहीं तालियाँ जोर से पिट गईं तो फिर इनाम इकराम लीजिए, मैडल-दुशाले लीजिए और अगर कोई शौक़ का अंधा और गाँठ का पूरा फँस जाय तो बस, जनम-भर मौज किए

जाइए ।

अगर कोई तकदीर का बन्दा न भी फँसे तो भी क्या हर्ज है ? आप दूसरों के नाम से कविता लिखिए, करारे पैसे मिलेंगे । शादियों के सेहरे बनाइए, मामा आएगा । कविता पुस्तकों को दानियों को समर्पित कीजिए, अच्छी रकम हाथ लगेगी । सबसे ऊपर यह कि एक किताब छपाकर सिनेमा या रेडियो में ले दौड़िए, बस स्टार बन जाएँगे और नौसिखियों से रुपया ऐंठने का एक अच्छा साधन प्राप्त हो सकेगा ।

लेकिन एक बात याद रखिए । करिए चाहे कुछ, रोज़गार आपका सभी फूले-फलेगा, जबकि आप कहते यह रहें—हम तो सरस्वती के सेवक हैं हमें लक्ष्मी से क्या लेना ! फिर देखिए, चाँदी आपके पास स्वयं खिंची चली आती है या नहीं ?

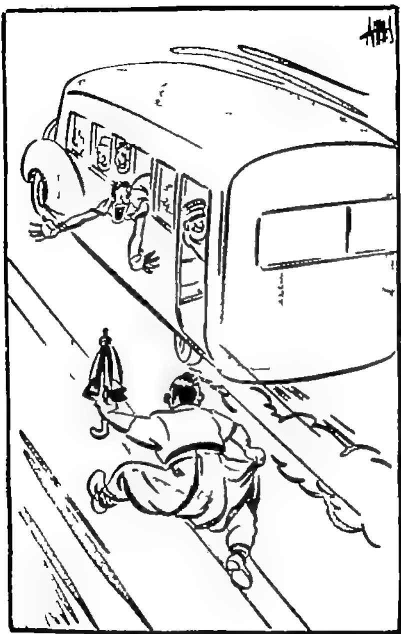
८

बस की सवारी

'नाम ही इसका बस किसीने छाँटकर 'बस' रख छोड़ा है। यानी बस खबरदार! धीरे-धीरे आइए, घंटों लाइन में लगे रहिए, फिर भी इस बात का कोई भरोसा नहीं कि बैठने को तो क्या लटकने को भी जगह मिल ही जाएगी!'

नाम ही इसका बस किसीने छाँटकर 'बस' रख छोड़ा है। यानी बस समझदार! दौड़े-दौड़े आइए, घण्टों लाइन में लगे रहिए, फिर भी, इस बात का कोई भरोसा नहीं कि बैठने को तो क्या, लटकने को भी जगह मिल ही जाएगी। हर वक्त इस बात का खतरा सिर पर सवार रहता है कि न मालूम कब 'कण्डक्टर' महोदय अँगुली उठाकर कह बैठें—'बस बस' में जगह नहीं रही!

यह समझ लीजिए कि राम-कृपा से कोई ३४ ३५ वर्ष की उम्र होने आई हमने तो ऐसी कोई बेबसी की सवारी देखी नहीं! बचपन में अपने गाँव से यही कोई दो-दो आने में बैठकर चौदह चौदह मील दूर शहर आया करते थे। इक्के की सवारी भी क्या रईसी सवारी होती थी—घूँ घूँ, चर्र-चूँ, छुन्न-छम्म छुन्न-छम्म! ऐसी मस्तानी चाल से इक्का चलता था कि यदि आजकल के किसी कवि को अन्धेरे में उसकी ध्वनि सुनाई दे जाती तो सचमुच वह यही समझ बैठता कि कोई पिकबयनी मृगछावक लोचनी, कहीं पनघट पर तो नहीं जा रही? और सिर्फ दो आने में, उस इक्के पर अपना एकाधिकार कितना होता था कि रास्ते में जहाँ कहीं कोई कुँआ या प्याऊ देखी तो फौरन हुक्म चला दिया 'इक्के वाले जरा रोकना भाई!' चने का खेत देखा तो उतर पड़े। गाजर-मूली या मटर-टमाटर नजर आए तो इक्का रुकवा लिया। कोई लघु-दीर्घ शंका हुई तो वह भी निवारण की। लेकिन अब? जनाब इस नए जमाने में एक आपकी 'बस' की सवारी है कि हम घण्टों उसके इन्तजार में 'लाइन' में लगे रहें इसका तो कोई एहसान नहीं, मगर बदकिस्मती से 'बस' के सर्राटे में अगर हमारा बेग खिसक जाता है, या सोला कैप उड़ जाती है, या, भगवान न करे, हम रह जाते हैं और हमारी देवीजी बैठ जाती हैं, तो कण्डक्टर की आप लाख खुशामद कीजिए, वह महाशय रुकने



"हम रह जाते हैं और हमारी देवीजी बैठ जाती हैं।" (पृष्ठ १४)

का नाम भी लेने वाले नहीं ! इसीलिए तो कहता हूँ कि और की तो क्या बस्ती हम जैसे भले आदमियों के लिए तो 'बस' पकड़ना भी एक मुसीबत का काम है !

जी हाँ, मुसीबत का काम है। वह इस तरह कि क्या हुआ कि हमारी गाँठ में टके नहीं हैं और हम एक दफ्तर में क्लर्क जैसी कोई नौकरी करते हैं, लेकिन कहलाते तो बाबू हैं ! और हम न सही हमारे खानदान वाले तो रईस थे ही—और हिन्दुस्तान में ऐसा कौन है जो खानदानी रईस न हो ? सो श्रीमानजी हम सवेरे उठते उस समय हैं जब श्रीमतीजी पतीली में दाल चढ़ा देती हैं, और नहाते उस समय हैं जब थाली की रोटियाँ ठंडी होने लगती हैं। इसी तरह आप सोच सकते हैं कि 'बस-स्टैंड' पर हम कब पहुँचते होंगे ?

अगर हमें बड़े बाबू की घुड़की का कोई खतरा न हो तो पहली से न सही दूसरी से, दूसरी से न सही तीसरी से, आखिर 'लंच टाइम' तक धरामा-धरामा दफ्तर पहुँच ही सकते हैं, लेकिन पता नहीं हमारे बड़े बाबू बाल-बच्चे वाले नहीं हैं, या भगवान ने आराम उनकी तकदीर में ही नहीं लिखा कि वह न जाने हमारी तरह से क्यों नहीं सोचते, और हम जैसे शरीफ लोगों को अकारण ही घूर घूरकर क्यों देखते रहते हैं ?

तो यह समझ लीजिए कि उसी वक्रदृष्टि का ख़याल रखते हुए ही 'बस' वालों का मुँह जोहना पड़ता है कि भाई जरा टाइम पर पहुँचा दिया करें। हाँ, दूर से आते देखें तो रुक जाया करें और सीट न होने पर भी हमें कहीं-न-कहीं टिका-अटका लिया करें ! लेकिन ये 'बस' वाले हैं कि जैसे मुरव्वत का पाठ इन्होंने पढ़ा ही नहीं। हम मिन्नतें और आरज़ू करते ही रह जाते हैं, लेकिन 'बस' है कि जैसे सट्टे में लक्ष्मी खिसक जाया करती है बस, उसी तरह 'बस' भी हमारे देखते-देखते आँखों के आगे से सरक जाया करती है।

अभी कल की बात है १०॥ होगए थे। अपने राम अपनी सुस्ती और मस्ती पर धीमले-धीमले 'बस' की ओर लपक रहे थे।

वहाँ पर पहुँचते ही क्या देखते हैं कि कोई बीस आदमी एक साथ अकेले दरवाजे के अन्दर घुसने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं। अच्छा खासा एक मल्लयुद्ध-सा होरहा है। किसीकी पगड़ी उतर कर लम्बी होगई है तो किसीका कोट सीवन से चटक रहा है। नौजवान बूढ़ों को धकेल रहे हैं और बूढ़े कह रहे हैं, 'देखो हमारा भी पानी! हमने जितना घी पिया है छोकरो उतना तुम्हें पानी भी नसीब नहीं हुआ होगा।' कोई नीचे से घुस रहा है तो कोई ऊपर से छलांग मारने की कोशिश में है और कोई पसरा बदल कर बगल से हाथ मारना चाहता है। उस दर्शनीय दृश्य का ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता। आपने शायद एक खेल देखा होगा। लोग बन्दरों के बीच में एक गुड़ की भेली रख देते हैं और उसके आस-पास १०-२० डण्डे बिखेर देते हैं। तो जिस तरह उस अकेली गुड़ की भली के पीछे बन्दरों में दत-किटाकिट होती है ठीक वही हाल उस 'बस' का था। अगर कोई अजनबी देखता तो यही सोचता कि शायद इसमें कोई चाँदी की सिल या रुपए बिखरे पड़े हैं कि जो पहले पहुँच जाय वही हाथ मार ले!

अगर शहर में कहीं दंगा होगया होता या 'कफ्र्यू' लगने वाला होता और यह आखिरी 'बस' होती तो भी इस धक्कम-धक्के की बात कुछ समझ में आती, लेकिन सरे-बाजार, दिन के १०॥ बजे पुलिस स्टेशन के पास चौराहे के सिपाही से चार कदम पर जब यह घटना घटती है तो बताइए, आप क्या सोच सकते हैं?

लेकिन आप जानते हैं कि कहने की बात और होती है और करने की और! हाथी के खाने के दाँत और होते हैं, दिखाने के और। हमने भी सोचा कि कोरी आदर्शवादिता में क्या लोगे? अगर यह १०॥ बजे वाली निकल गई तो दूसरी से ११॥ बजे दफ्तर लगोगे। मा बाबा! हम भी लेकर बजरंगबली का नाम पिल पड़े और अपनी आदर्शवादिता को यह कहकर चुप कर दिया कि इस 'बस' से जाने का पहला अधिकार हमारा है। हमें अपने अधिकारों

की खुद रक्षा करनी चाहिए। जो अपने अधिकारों की खुद रक्षा नहीं कर सकता वह कायर है।

हम दंगल में कूद तो पड़े लेकिन जैसा कि गुसाईं तुलसीदासजी कह गए हैं—

हानि-लाभ जीवन-मरण
जस-अपजस विधि हाथ।

इस 'महासमर' में विजयी होना कोई हमारे वश की बात थोड़े ही थी। हम तो कर्तव्य करने के अधिकारी थे फल हमारे भाग्य में कहाँ था? अपनी पराजय पर हमें अफ़सोस तो कम न था लेकिन तसल्ली इतनी ज़रूर थी कि इस मोर्चे से सफलतापूर्वक वापस हटने वाले हम अकेले ही न थे। हमारे साथ कई लम्बी मूछों वाले ऊँचे पुट्ठों वाले चौड़ी छाती वाले और टेढ़ी टोपी वाले भी थे। हमें तो सिर्फ़ ग़म इस बात का था कि आज ही जो नए धुले कपड़े निकाले थे उनका इस्तरी-कलफ़ सब-ख़त्म होगया हाथ की घड़ी का शीशा चटक गया और वह तो भगवान ने ख़ैर की नहीं तो हमारा मनी बेग (हालांकि उसमें पैसे कुल दस-बारह आने के ही थे) जाते-जाते बच गया।

आप शायद यह कहें कि यह तो सवारियों का क़सूर है कि वे लाइन लगाकर क्यों नहीं खड़ी होतीं? अगर क्यू (लाइन) में खड़े हों तो एक भी दिक़्क़त न उठानी पड़े।

जी हाँ, 'क्यू' की भी सुनिए। यह हिन्दुस्तान है भाई! यहाँ 'क्यू' का 'क्यू' ज़रा देर से समझ में आता है। फिर नियम कुछ भी हों प्राथमिकता औरतों को ही दी जाती है। रेल में टिकट इन्हें अलग से दिया जाता है। डिब्बे इनके अलग और सुरक्षित होते हैं, 'बस' में इन्हें पहले स्थान मिलता है और आगे बिठाई जाती हैं। यह सब देखकर कभी-कभी यह सोचने को मजबूर होना ही पड़ता है कि हमने तो यह नर-देह यों ही धारण की! कम-से-कम 'बस' में स्थान पाने के लिए तो हमें पुरुष की देह की क़तई आव-

आपने लाख दक्षिण के मन्दिर और उत्तर के देवता देख डाले हों हजार महल मकबरे, किले मीनार और अजायबघरों में आँखें फाड़ी हों कलकत्ता की चौरंगी बम्बई की चौपाटी दिल्ली का चाँदनी चौक और आगरे के ताजमहल पर चाहे आपकी आँखें फिसल-फिसलकर ही क्यों न रह गई हों लेकिन अगर आपने एक बार भी कभी दफ्तर की दुनिया के दर्शन नहीं किए, तो समझ लीजिए कि आपका दुनिया देखना बेकार ही गया।

कहते हैं कि मनुष्यों की यह दुनिया विधाता की बुद्धि की उर्वर कल्पना है सुनते हैं कि विश्वामित्र की महान खोपड़ी ने भी बूढ़े वशिष्ठ से उलझकर एक नई दुनिया बना डाली थी दौलत की रोशनी में अन्धे अमरीका को भी आजकल कुछ लोग नई दुनिया कहा करते हैं, कवि-लेखक और पत्रकारों की तो दुनिया निराली होती ही है—लेकिन यह जो हमारे हर शहर और कस्बे की छोटी बड़ी इमारतों में एक अजब ही दुनिया बसी हुई है पता नहीं वह किस नये विश्वामित्र की छायावादी बहक का परिणाम है कि उसने सारी दुनिया पर और उसके विधि-विधान पर पानी फेर रखा है।

वेद, उपनिषद और धर्मशास्त्रों में लाखों-करोड़ों वर्ष के प्रयत्न से जिस परम तत्त्व आत्मा का सूक्ष्म अनुसंधान किया गया और जिसके लिए ऋषि मुनि योगी जी-जीकर मरे और मर-मरकर जिए उसे यहाँ के छोटे-छोटे क्लर्कों ने तारों में फाइलों में, रजिस्टरों और आलमारियों में ऐसे सम्हालकर बन्द कर रखा है कि आत्मा क्या परमात्मा भी आजाय तो पड़ा तड़पता रहे। लाल फीते से बेचारे का उद्धार ही न हो।

बड़ी-बड़ी शाश्वत भावनाएँ, रस, छन्द और अलंकार—जिनके लिए महाकवि लोग मगजपच्ची करते-करते मर गए, यहाँ हजारों और

फाइलों की तादाद में 'पिन' और 'टैग' किए हुए पड़े हैं। आजकल के कहानी उपन्यास और नाटक लिखने वालों को चाहे रात रात भर जागते रहने के बाद भी कथानक और पात्र न मिलते हों, पर यहाँ पग-पग पर कथानक और कदम-कदम पर पात्रों और कुपात्रों की यह भीड़ भरी है कि बिना पढ़े ही प्रेमचन्द के उपन्यासों का मजा आ जाता है।

जी हाँ, यहाँ के लोग औरतों की तरह लड़ें, यहाँ के बूढ़े बच्चों की तरह ठुमकने लगें, यहाँ के मूर्ख पंडितों को मात दें और यहाँ के दुष्ट देवताओं की तरह सिंहासन पर बैठकर उन्हींकी तरह ईर्ष्या और द्वेष में पारङ्गत हों तो बताइए, आप इनमें दिलचस्पी लेंगे या इलाचन्द्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों से सिर फोड़ेंगे ?

बताइए गर्मियों में गुलूबन्द लगाए, पैंट पर बन्द गले का कोट डाटे बुशशर्ट के नीचे धोती पहने या कुर्ते पर हैट और आँखों में मोटा-मोटा कायस लगाए देशी बाबुओं की त्रिभुवन-मन-मोहनी सौन्दर्य छटा का अवलोकन करेंगे या बेढब बेधड़क, बेखड़ग बेगरज, बेमरज बेहरम, बेधरम आदि महाकवियों की रस से चुहचुहाती रचनाएँ सुनना पसन्द करेंगे ?

गधे और घोड़े कैसे एक-साथ जोते जाते हैं ? बैल और भैंसे की जोड़ी कितनी प्यारी लगती है ? कुत्ते बिल्ली चूहे और कबूतर एक साथ कैसे रख जा सकते हैं—यदि यह देखना है तो आप हिन्दी का कोई छायावादी महाकाव्य न पढ़कर मेरे साथ दफ्तर में आइए, वैसी असंगतियाँ आपको यहाँ मिलेंगी वैसी जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों में भी ढूँढने से न पाइएगा!

हिन्दुस्तान और उसकी समस्याओं को देखना-समझना है तो नाहक गांधी नेहरू की पुस्तकों में सर खपाते हो ? दफ्तर को देखिए—जैसे भगवान ने अर्बों-खर्बों मनुष्य पृथ्वी पर पैदा किए हैं, मगर क्या मजाल कि कोई घूँघट वाली अँधेरे में भी अपने पति को पहचानने में गलती कर बैठे—शक्ल सूरत, स्वभाव और व्यवहार में

एक दूसरे से अलग ! ठीक वैसे ही दफ्तर की दुनिया में दस-बीस नहीं सैकड़ों-हज़ारों आदमी एक जैसा काम करते हैं, एक जगह उठते-बैठते हैं, एक-सा वेतन पाते हैं, एक-से क्वार्टरों में भी रहते हैं, मगर क्या मजाल कि वे किसी एक भी बात पर एकमत हो सकें। कहीं भी उनमें एका हो। सब एक-दूसरे से निराले और अजीब ! यही असली हिन्दुस्तान है न ?

कोई हाथी जैसा भारी-भरकम तो कोई बिल्कुल ऐसा जैसा रेगिस्तान का ऊँट। कोई घोड़े-जैसा चपल तो कोई टट्टू जैसा अड़ियल ! कोई भेड़िए-जैसा खूँखार तो कोई कुत्ते-जैसा पालतू। कोई बैल की तरह जुतने वाला तो कोई बिलाई की तरह मलाई साफ़ करने वाला। कोई चपरासी की खाल में शेर तो कोई अफ़सर की खाल में गधा। कोई ऊँचा तो कोई मटमैला। कोई घुम्म तो कोई वाचाल। गरज यह कि विधाता ने अपनी फैक्टरी में आदमी की जाति के जितने भी मॉडल तैयार किए हैं, दफ़्तर के अजायबघर में उन सबके नमूने आपको तैयार मिलेंगे।

हमारे कहने का मतलब यह नहीं कि दफ्तरी लोग हर बात में एक-दूसरे से पृथक् ही हैं। कुछ बातें उनमें असाधारण रूप से सामान्य भी हैं, जैसे सब हेड क्लर्कों से डरते हैं, अफ़सरों से कांपते हैं, गालियों का गिला नहीं मानते और खुशामद करने में २५) के चपरासी से लेकर २५००) तक के सेक्रेटरी तक समान रूप से सनद प्राप्त किए हुए हैं। यह ठीक है कि सुपरिन्टेन्डेन्ट या मैनेजर के मारे उनकी धोती ढीली होने लगती है और पैन्ट खिसकने लगता है, मगर दफ़्तर में उनकी कुर्सी के सामने काम पड़ने पर अदना-से अदना क्लर्क भी ज़रा खड़े होकर तो देखिए, आपके होश ढीले न करदें तो नाम नहीं। और क्यों न करदें ? आप लाख सभाएँ कीजिए, प्रस्ताव पास करिए, जलूस निकालिए, सरकार पर ज़ोर डालिए, वह जानते हैं कि राज की कुंजी आज नेहरू के हाथ में नहीं उनकी कलम की नोक में है ! यह ठीक है कि घर में बीबी के मारे



कोई हाथी जैसा भारी भरकम तो कोई बिल्कुल ऐसा जैसे रेगिस्तान का ऊँट ! कोई घोड़े जैसा चपल तो कोई टट्टू जैसा मरियल कोई भेड़िए जैसा खूंखार तो कोई कुत्ते जैसा पालतू !" (पृष्ठ ९२)

और बाजार में साहूकारों के मारे उसका रहना-निकलना दूभर हो रहा है, मगर यह उनकी घरेलू बातें हैं, इनमें दखल देने का आपको कोई हक नहीं है। बाहर अगर पैन्ट की क्रीज बीसी हो, केश न बनी हो, बाल रूखे हों, जूते न चमकते हों तो आप शिकायत कर सकते हैं। शनिवार को अगर सिनेमा न जाएँ, रविवार की शाम का भोजन बाहर न करें, १५ तारीख से पहले ही तनख्वाह समाप्त न होजाए तब आप चाहें तो यह सोच सकते हैं कि बाबू अपने धर्म से डिग गया। नहीं तो वह सत्य सनातन धर्म का यथार्थ रूप से पालन करता रहता है।

दुनिया में बार-बार युद्ध क्यों होते हैं, यह मेरी समझ में नहीं आता। इसे रोकने के लिए व्यर्थ ही करोड़ों डालर यू० एन० ओ० पर खर्च किए जा रहे हैं। दुनिया को सहनशीलता और समन्वय का पाठ आज वी० एम० राव की स्पीच से नहीं, दफ्तर के वातावरण से लेना चाहिए। यहाँ गाँधी के शिष्य, लेनिन के नाती चर्चिल के पिट्ठू और गुरूजी के चेले एक ही कमरे में आठ घण्टे रहते हैं, मगर कैसी शान्ति, उनमें कभी हाथापाई की भी नौबत नहीं आती। यह नहीं कि वे चुप रहते हो, या बहस न करते हों, अथवा कोई किसी की बात मानने को तैयार होजाता हो। वे सिर्फ बहस के लिए बहस करते हैं। इसलिए बहस करते हैं कि बहस करना फैशन और बड़प्पन की निशानी है।

आपने कभी शालिग्राम की बटिया के दर्शन किए हैं ?—गोल, सुचिक्कण और ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण ! बस, दफ्तर के बाबू को भी आप एकदम शालिग्राम की ही बटिया समझिए। वैसा ही कोने, किनारों से हीन, गोल-सिसपट। वैसा ही चिकना जिस पर नाम को पानी नहीं ठहरता। वैसा ही देवता जिसे भूख सताती है न प्यास। वैसा ही पत्थर कि संसार में कुछ भी होता रहे उनके कानों पर जूँ नहीं रेंगती। वह भला और उसका कुर्सी रूपी सिंहासन भला। मर्जी ने उठाया, उठा। बीबी ने दे दिया, सो खा लिया। काम मिला,

कर दिया। न मिला, बैठा रहा। डाँट लगादी, काँपने लगा। निकाल दिया तो रो पड़ा। साहब की सीधी नज़रें हुईं, तो फूल गया। बीबी ने ज़रा हँस कर देख लिया तो गा उठा—

अँखियाँ मिलाके, जिया भरमाके, चले नहीं जाना, हो!

१०

हिन्दी के आलोचकों

"तुमने आलोचना लिखने के लिए जो सौ-पचास शब्द अपनी डायरी में नोट कर मेज पर रख छोड़े हैं, मैं चाहता हूँ कि तुम उन सबका एक बार ही मेरी पुस्तक पर प्रयोग कर बैठो।"

मैं हास-परिहास की कविताएँ अच्छी लिखने लगा हूँ। अच्छी ही नहीं बहुत अच्छी लिखने लगा हूँ। इसके प्रमाण में मैं आपको सम्पादकों के पत्र कवि-सम्मेलनों के निमन्त्रण और छपी हुए कविताओं के वे सब 'कटिंग' जो मैंने सम्हालकर एक रजिस्टर में चिपका लिए हैं, जब चाहें तब दिखा सकता हूँ।

मेरी सफलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि कविता बिना सुने ही लोग मेरी शक्ल पर हँसते हैं, सुनने के बाद ताली पीटते हैं और बाहर निकलने पर अंगुली उठाते हैं।

इसीलिए जब हिन्दी साहित्य का इतिहास लिख जाने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के असामयिक निधन पर दृष्टि डालता हूँ तो कभी-कभी मुझे बड़ी निराशा हो जाती है।

हाय! अब शुक्लजी के बिना कौन मेरे स्थान को हिन्दी साहित्य में स्पष्ट कर सकेगा?

अब ऐ हिन्दी साहित्य के नवीन इतिहास लेखको! विधाता की इस भूल को जो उसने असमय ही शुक्लजी को अपने पास बुलाकर की है अपने इस उत्तरदायित्व को जो अनायास तुम्हारी कलम पर आ पड़ा है क्या तुम निबाह सकने में समर्थ हो सकोगे?

बुद्धिमानी इसीमें है कि तुम इस अवसर से लाभ उठाओ। तुम्हारी लेखनी मेरे विषय में लिखते हुए धन्य हो उठे। तुम लिखो "व्यासजी जैसी अमर शक्तियाँ साहित्य के इतिहास में कभी-कभी ही उदित होती हैं। हिन्दी के इतिहास में तो इने-गिने दो-चार ही व्यक्ति हैं, जिनका नाम श्रद्धेय व्यासजी के साथ लिया जा सकता है। इस छोटी-सी उम्र में ही उनकी कलम ने जो जौहर दिखाए हैं, ऐसे उदाहरण हमें तो हिन्दी-साहित्य में देखने को नहीं मिले।

कोई भले कहे कि शुक्लजी नवीन लेखकों के यशगान में बड़े



"हे हिन्दी के आलोचको आओ मैं तुम्हें रास्ता बताता हूँ !" (पृष्ठ १७)

ही कृपण थे पर आज कहीं वह होते और मुझे देख पाते तो विश्वास मानिए कि वह मेरे अन्तर को खोलकर रख देते और लिखते

"व्यासजी की कविताओं में हमें शिष्ट हास्य की सुन्दर झाँकी मिली। उन्होंने अपकृष्ट वस्तुओं में से हास्य की उद्भावना न कर जीवन की हास्योन्मुखी वृत्ति का उद्घाटन किया है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में छायावाद (इम्प्रेशनिज्म) का पुट देकर वासन्तिक लहरियों से उच्छलित व्यासजी की हास्य-सृष्टि अपूर्व हो उठी है।"

पर शोक ! वह रत्नपारखी न रहा ! तब ए नए युग के उदार समालोचको ! तुम अब यह लिखो

"व्यासजी ने हिन्दी के सारे परिहास लेखकों को १० अरब गज १००० मील पीछे छोड़ दिया है। उर्दू के अकबर होते तो दाँतों तले अँगुली दबा जाते। 'हास्यरस' के बुद्बुदों का उन्हें और भास है, कवियों में स्वयं वैराग्य होता है पर हास्य को विषय और वस्तुओं में बाँधना टेढ़ा कार्य है। व्यासजी ने इस महत्त्वपूर्ण कार्य को अपने हाथ में लेकर हम लोगों के मस्तक को ऊँचा उठाया है। वह सूर की तरह सरस, तुलसी की तरह व्यापक और बिहारी की तरह सदैव प्रिय रहेंगे।"

और ए मेरे आलोचक दोस्तो ! तुम्हारी मित्रता यदि आज के दिन काम नहीं आई तो फिर किस दिन काम आएगी ? अपनी पुस्तक की पहली प्रति मैं तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। तुम हिन्दी के पत्रों में वह तूफ़ान बरपा कर दो कि कहर मच जाय ! मेरी कविता में जो गुण नहीं हैं उन्हें खोज निकालो। पाठक जो सोच न सकें, वह लिख डालो। हे हिन्दी के आलोचको आओ, मैं तुम्हें रास्ता बताता हूँ। तुमने आलोचना लिखने के लिए वे जो सौ-पचास शब्द अपनी डायरी में नोट कर मेज पर रख छोड़े हैं, मैं चाहता हूँ कि तुम उन सब का एक बार ही मेरी पुस्तक पर प्रयोग कर बैठो। तुम लिखो

"व्यासजी अंग्रेज़ी के पद्य हैं, और के पद्य ! रस का अनुभव लेखक भाव-सौष्ठव में उनसे भी पीछे रह जाता है और अमरीकी लेखक अपनी अस्तीनता के कारण हमारे व्यासजी का पल्ला भी नहीं पकड़ सकते।"

यही नहीं, तुम यह भी लिखो

"इधर पच्चीस बरस से हिन्दी में ऐसी [illegible] कोई

पुस्तक नहीं निकली, हम प्रत्येक हिन्दी पाठक का ध्यान इस पुस्तक की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।"

आप क्या हिन्दी के पाठकों की आदत से परिचित नहीं कि वे किसी भले आदमी की कद्र नहीं करते। भले न करें! यदि हम आपस में संगठित हैं तो पाठक हमारा कर ही क्या सकेंगे? आप मेरी कद्र कीजिए, मैं आपको दाद दूंगा। मैं कवि ही नहीं आलोचक भी हूं। आप मेरी प्रशंसा कीजिए, मैं आपकी तारीफ़ के पुल बाँध दूंगा। यदि कवि हैं तो व्यास और वाल्मीकि से बड़ा दूंगा। यदि आप इतिहासकार हैं तो विंसेन्ट स्मिथ से भी ऊँचा उठा दूंगा। यदि आप विचारक हैं तो बर्नार्डशा और विनोबा से भी दस हजार मील (आजकल के वायुयानी युग में कदम क्या चीज़ है) आगे बढ़ा दूंगा—'मनतुरा काजी बिगोयम तो मरा हाजी बिगो'।

मित्रो! मैं चाहता हूं तुममें से कुछ जान-बूझकर मेरे विरुद्ध लिखना शुरू करदें। क्योंकि मुझे बताया गया है कि ये विरुद्ध आलोचनाएं प्रचार में बड़ी सहायक होती हैं। हाँ, तो बनारसीदास चतुर्वेदीजी, एक आन्दोलन मेरे नाम पर भी सही! भाई राम विलास मैं प्रगतिवादी नहीं हूं—एक तमाशा मेरे नाम पर भी। मेरी कविता के छन्द अलंकार और व्याकरण किशोरीदासजी कहाँ हो, तुम्हें पुकार रहा हूं! मैं कलमघिसा नहीं हूं मेरे दूरवी मित्रो! कहाँ सो रहे हो? तुम लिखते क्यों नहीं—

"जिसे देखो आज वही कवि बनने आ रहा है। हास्य विनोद को लोगों ने खिलौना समझ रखा है। अभी व्यास नाम के महाशय की एक पुस्तक देखने को मिली। लेखक अपने आपको न जाने क्या समझे बैठा है, पर असल में ऐसे हास्य का नमूना हमें तो कभी दिखाई नहीं दिया। जनाब की पत्नी के सिवाय दूसरी चीजों में हास्य ही नहीं फुरता। कवि-ताओं का टेकनीक एकदम पुराना है और विचार हजरत के १८वीं शताब्दी के। नारी को गलत चित्रित किया गया है। नारी को बदनाम करने की मिस मेयो जैसी प्रवृत्ति भी इस पुस्तक में दिखाई पड़ती है। ऐसा लगता है कि मिस्टर व्यास की अपनी विकृत भावना ही पत्नी के रूप में मुखर

हो उठी है। अधिकांश कविताओं को पढ़कर लगा कि यह भारतीय घर का चित्र नहीं, स्वयं लेखक के अपने घर का पहलू है। इन कविताओं में शैली की एकतानता है। सुरुचि, शिष्टता और सामाजिकता की अवहेलना की गई है। अधिकांश कविताएँ अश्लील हैं। अभी पाश्चात्य देशों के मुकाबले हमारा हिन्दी का साहित्य कितना तुच्छ और जघन्य है कि उसकी तुलना नहीं की जा सकती। व्यास अगर अंग्रेज़ी नहीं जानते तो उन्हें अपने पड़ोसी बंगाली, मराठी के साहित्य को ही देख जाना चाहिए। तब उन्हें अपना स्थान ठीक से दिखाई दे जायगा कि जिनके पासङ्ग में उनकी रचनाएँ कितनी तुच्छ कितनी ओछी और एकदम बेतुकी हैं।"

इसके बाद तुम आँख मूँदकर मेरी किसी एक कविता को उठा लो और उसमें जगह-जगह छन्द भङ्ग पुनरावृत्ति ग्राम्यप्रयोग और अश्लीलता की बारीकी से तलाश करो। प्रयत्न करने से बालू में भी तेल निकल आता है। पुस्तक के गैट-अप कागज़ और मूल्य पर भी तुम्हारी टिप्पणी रहनी चाहिए। प्रेस की अशुद्धियों को बचा जाना सही आलोचना नहीं है। और देखो चलते-चलते मेरे प्रकाशक पर भी अपनी स्याही की दो बूँदें ऐसी छिड़कना कि अगली पुस्तक छापने से पहले उसे दस बार सोचना पड़ जाय। मतलब यह कि मेरी कविता को हर प्रकार से तुम्हें दो कौड़ी की सिद्ध करके ही दम लेना है, समझ गए न?

यह मेरी पहली पुस्तक है। मुझ पर बड़ी-बड़ी किताबें तो बाद में लिखी जाएँगी पर कुछ छोटी पुस्तकें यदि अभी निकल जाएँ तो कोई हर्ज न होगा। मतलब मेरा कहने का यह है कि यदि 'व्यास की कला' (गुप्तजी की कला) 'व्यास एक अध्ययन' (साकेत एक अध्ययन) जैसी किताबें अभी नहीं लिखी जा सकें तो जनाब प्रभाकर माचवे तुम जल्दी-से-जल्दी दिल्ली चले आओ। मैं आजकल यहीं हूँ। मुझ से आकर दो-चार 'इन्टरव्यू' ले लो और जल्दी ही "व्यास के विचार" (जैनेन्द्र के विचार) नाम से एक पुस्तक तैयार कर दो। छपवाने का सब प्रबन्ध हो जाएगा।

और पाठको, ऐ माँगकर पुस्तक पढ़ने वाले साहित्य के शौकीन

मज़ाक नहीं, खुशामद करना भी एक कला है। और कमबख्त, ऐसी कला है कि सारी दुनिया इसमें माहिर होना चाहती है लेकिन बदकिस्मती भी ऐसी है कि नाचने-गाने और भगवान जाने झूठ या सच किसी-किसी सभ्य देश में तो चोरी सिखाने तक के स्कूल-कालेज खुल गए हैं मगर खुशामद जैसे खुशनुमा और दिन रात व्यवहार में आने वाले परम उपयोगी 'आर्ट' पर न तो कहीं कोई डिग्री कालेज है और न किसी यूनिवर्सिटी में इस विषय पर 'थीसिस' ही स्वीकार की जाती है। नतीजा यह है कि योगियों के लिए भी परम दुर्लभ इस महान तत्व का विधिवत अध्ययन नहीं हो पाता और इस विद्या का जैसा शास्त्रोक्त और सुसंगत प्रचार होना चाहिए वैसा नहीं होरहा।

अभी तो हाल यह है कि आदमी की अक्ल ने अपने-अपने अलग अलग छुरी-काँटे बना रखे हैं कि सेंक-सेंककर टोस्ट पर मक्खन लगाया जारहा है अपने-अपने जाल और काँटे हैं कि परन्द फँस रहे हैं, मछलियाँ अटक रही हैं अपना-अपना मांजा और करिश्मा है कि पतंगें बढ़ाई जारही हैं और पेच-पर-पेच उलझा दिए गए हैं और इस तरह अपनी-अपनी किश्तियाँ हैं कि धार में छोड़ दी गई हैं कि किनारे लग जाएँ तो राम मालिक और डूब मरें तो मर्ज़ी भगवान की।

भाई मेरे, पिताजी की फ़ालतू कमाई पर मोटे खा-खाकर बी० ए०, एम० ए० होजाना और बात है और जीवन में बिना कौड़ी पैसे के सफलता लाभ करना अलग बात है। आपने चाहे छब्बीस वर्ष तक यथावत् ब्रह्मचर्य पालन करके जैसे-तैसे विद्यालंकारिता भले ही हासिल कर ली हो, लेकिन जब तक खुशामद का 'कोर्स' लेकर आपको 'डिप्लोम' की सनद नहीं मिलती, तब तक किसी अखबार

"मजाक नहीं खुशामद करना भी एक कला है !" (पृष्ठ ७२)

की सम्पादकी तो क्या, आपको श्रीमानजी, कहीं चपरासीगीरी भी नहीं मिल सकती !

जी हाँ चपरासीगीरी ! विश्वास न हो तो अपने शहर में जो म्युनिसिपल कमेटी है उसके सबके से लेकर सैक्रेटरी तक से एकान्त में जरा पूछ लीजिए कि हुजूर, जो-कुछ आज आप दिखाई देते हैं, यह सब किसकी बदौलत है ? हर ईमानदार आदमी आपसे यही कहेगा—अजी, हम किस काबिल हैं, यह तो महामहिमामयी परम ममवती खुशामद देवी का ही परम प्रसाद है ।

यही क्यों, आप किसी भी दफ्तर के मैनेजर क्या हैड क्लर्क तक के हाथ पर गंगाजली रखकर ईमान से पूछ लीजिए कि महाराज, हम किसी से भी जिक्र नहीं करेंगे, न अखबारों में ही छपने देंगे, पर कृपाकर यह तो बताइए कि जिस कुर्सी पर आज हमें बैठना चाहिए था, वहाँ आप कैसे विराजमान हैं ? वह क्या उत्तर देंगे यह तो मैं नहीं जानता लेकिन इतना अवश्य बताऊँ कि जितने भी ये बड़े-बड़े जज, कलेक्टर, तहसीलदार और थानेदार हैं, इन सबकी नींव में कहीं-न-कहीं खुशामद का पानी अवश्य पड़ा हुआ है !

और क्यों न हो, खुशामद कोई आज की या अनहोनी चीज तो है नहीं । हम सबका सिरजनहार, अखिल विश्व का नियन्ता, खुद परमेश्वर ही जब महा खुशामदपसन्द है तो हम धरती के तुच्छ मनुष्य की क्या चलाई । वेद-शास्त्र, पुरान-कुरान गीता-बाइबिल सब एक स्वर से कहते हैं कि उसकी प्रार्थना करो, उससे दुआएँ माँगो, उसके सामने नाक रगड़ो, अपने को तुच्छ समझो उसे सर्व शक्तिमान कहो । यही नहीं, उनका यह भी कहना है कि आप लाख पापी हों, लेकिन सारे जीवन में यदि एक बार भी आपकी खुशामद-भरी टेर उस तक पहुँच जाय, तो बस फिर जनम-जनम के पाप स्वयं ही कट जाते हैं । अजामिल, गीध, व्याध, गणिका और गजराज की अमर कथाएँ, हजार मुख से खुशामद की ही महान शक्ति का जय घोष कर रही हैं ।

यह कहिए कि तकदीर हमारी कुछ अच्छी थी जो शीघ्र ही हमने खुशामद के महत्त्व और माहात्म्य को हृदयंगम कर लिया। उस्तादों की खिदमत कर-करकर हजारों नई-पुरानी कविताएँ याद कर डालीं। पचासों जगह उन्हें अपनी बताकर सुना डाला। तिकड़म से नकल कर करके विशारद और साहित्यरत्न पास कर डाले। कवियों की खुशामद करके कुछ तुकें जोड़ना सीख लिया। महान कवियों और लेखकों की नई-पुरानी कृतियों पर प्रशंसात्मक लेख लिखे। खुशामद कर-करके उन्हें पत्रों में छपवाया। इस तरह क्रम-क्रम से साधना करने पर आज यह दिन भी आया कि लोग भूल गए कि हम पहले क्या थे? अब तो हम हैं महामहिम स्वनाम धन्य श्री कवि लेखक और पत्रकार!

तो भाई मेरे, इसीलिए कहता हूँ कि खुशामद से भागो मत। इस दुनिया में सब कुछ असत्य है। सत्य केवल दो वस्तुएँ हैं वह यह कि अगर नालायक हो तो खुशामद करो और लायक हो तो खुशामद कराओ। संसार और सफलता का रहस्य, बस इसीमें छिपा है।

इतनी भूमिका और खुशामद के इस महामहिमामय माहात्म्य के बाद आप शायद इस कला के कुछ तौर-तरीके अवश्य जानना पसन्द करें। यों तो यह विषय योगियों के लिए भी दुर्लभ और तपस्वियों के लिए भी परम गहन है, पर क्योंकि अपनी पत्नी के पुण्य प्रताप से मैंने इसमें अकिंचित सिद्धि लाभ की है, इसलिए, अपने चौथाई शताब्दी के कुछ अनुभूत प्रयोग आपकी सुविधा के लिए यहाँ दे रहा हूँ। आशा है मेरे इस परमार्थ से पाठकों का स्वार्थ अवश्य ही सिद्ध हो सकेगा।

तो सुनिए, खुशामद की कला में सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आप खुशामद तो करें, लेकिन खुशामदी न समझे जाएँ। यानी, जिसकी खुशामद आप करना चाहते हैं, उसे यह न मालूम हो कि उसकी खुशामद की जा रही है।

आप में से शायद कुछ मेरी इस बात से सहमत न हों और

हे महामहिम,

आप वैद्यों के लिए अगम और डाक्टरों के लिए दुर्गम हैं, होमियोपैथ आपके आगे आने से हिचकते हैं और हकीम बेचारों की तो बस हिचकी ही बँध जाती है। तीन लोक में आपके उतारे का कोई और उपाय संभव न समझकर, हम सब आपकी ही शरण आए हैं, पाहिमाम प्रभो! रक्षा कीजिए, दया कीजिए!

हे ज्वराधीश,

अपने महाशत्रु कुनैन को चारों कोने चित्त पछाड़कर, आपने जो परम पौरुष प्रदर्शित किया है, उससे बेचारी कुटकी के प्राण कुटकी में निकल गए हैं। तब चिरायता, ज्वरनाशक और जूड़ी-ताप भला आपका क्या बिगाड़ सकेंगे? जब पैल्युड्रीन और नैपाक्रीन की कुछ नहीं चलती तो बेचारे तुलसी के पत्ते अभी चढ़ाइए उन्हें शालिग्राम पर!

हे महाकाल

कौन ऐसा है जो आपके प्रबल प्रताप से परिचित न हो? अरे जंगल में शेर से बचा जा सकता है, बरसाती रात में टूटी छत के नीचे टपके से बचा जा सकता है, चोर बाजार करते हुए सजा से बचा जा सकता है, दफ्तर में बड़े बाबू की घुड़की से भी निजात मिल सकती है और घर में श्रीमतीजी की लन्तरानियों से भी बचने के तरीके ईजाद होगए हैं। लेकिन हे अरि-मद-मर्दन! जिस पर जीवन में आपकी एक बार कृपा होगई, उसकी दवा तो शायद फिर धन्वन्तरि के पास भी नहीं है।

हे प्रलयंकर,

भारतवर्ष में वास करने वाले तैंतीस करोड़ देवताओं की (इधर उनकी जनसंख्या भी बढ़ गई है) आपके आतंक से घिग्घी बँध चुकी

"उन्होंने लिहाफ के ऊपर रजाई, रजाई के ऊपर कम्बल, कम्बल के ऊपर गद्दा, गद्दे के ऊपर दरी और दरी के ऊपर चादर ओढ़कर जिस शैया-सुख का प्रदर्शन किया कि !" (पृष्ठ ८३)

है। नई दिल्ली में वास करने वाले बड़े-बड़े विलासी इन्द्र, वाटर वर्क्स के सुपरिंटेंडेण्ट यानी वरुण, बिजली कम्पनी के मैनेजर यानी सूर्य और अखबारों के सम्पादक यानी नारदों के दाँत आपकी छाया मात्र से किटकिटा कर बज उठे हैं। बड़े-बड़े गुण्डे और थानेदार आपके डर के मारे कम्बल रजाई, सौड़ और गद्दों में जा छिपे हैं। यही नहीं, इन सबसे भी परम दुर्धर्ष और अदमनीय हमारी 'उन' पर जो उस दिन आपकी कृपा हुई तो मैं हैरान होगया! उन्होंने लिहाफ के ऊपर रजाई, रजाई के ऊपर कम्बल, कम्बल के ऊपर गद्दा, गद्दे के ऊपर दरी और दरी के ऊपर चादर ओढ़कर जिस शैया-नृत्य का उस दिन प्रदर्शन किया था, उसे यदि रविबाबू देख पाते तो निश्चय ही वह अपनी शांतिनिकेतन की कला-कल्पना पर दीन हो उठते! उदयशंकर के उर्वर मस्तिष्क में भी इस प्रकार के नृत्य की कोई सम्भावना अभी तक पैदा नहीं हुई होगी। अहह! कैसा अपूर्व दृश्य था! खाट हिल रही है, कि देवीजी हिल रही हैं, कि पास खड़ा मैं हिल रहा हूँ कि हम सबको हिलाने वाली धरती हिल रही है—कुछ समझ में ही न आता था! ऐसा लगता था कि अपने पूरे वेग पर महाविनाशी का तांडव शुरू होगया है और परम भगवती अपने लास्य के लिए अपनी शैया पर से उठने ही वाली हैं!

हे प्रभो,

अगर हमारी सरकार पाकिस्तानियों से फुर्सत पागई होती या कम्बख्त डाक्टरों ने कुनैन में आरारोट न घोला होता और वैद्यों की पुरानी पुस्तकों को दीमक न चाट गई होती तो हम आपको इतना कष्ट न देते। लेकिन अब तो हाल यह है कि अनाड़ी डाक्टरों ने दे-देकर इंजेक्शन मेरी बाँह को छलनी कर दिया है, मेरी पत्नी के गले में पीपल का पत्ता लाल कपड़े में बँधा लटकता रहता है, मेरे बच्चे एक झोले में कागज दबाए फिरते हैं और उनकी दादी ने ताक पर मनौती के इतने पैसे इकट्ठे कर रखे हैं कि अगर उन्हें ले भगने की हिम्मत मुझे होजाती तो सच समझिए कि कम-से-कम

एक महीने की साक-भाजी का काम तो चल ही जाता है !

अन्तर्यामिन,

काबुल और कंधार का रास्ता खतरे में है, इसलिए मुनक्कानों का लोप होगया है, सेब और अनार के दर्शन दुश्वार होरहे हैं, मौसमी बेमौसमी होगई है और मिट्ठे खट्टे निकलने लगे हैं। तब, पानी भरी गंडेलियाँ और पानी-पानी दूध ही तो इस १२५ पौण्ड, ५ फुट ६ इंच वाले शरीर का आधार है।

परम पुरुष !

बेचारे परशुरामजी तो केवल २१ बार ही अकेले क्षत्रियों का नाश करके थक गए, लेकिन आप सत-सहस्रों वर्षों से बिना थके सृष्टि के दीन-हीन भटके प्राणियों के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते चले आरहे हैं। मेरी दादी जिसे जीवन में ५६ बुखार खाट से नीचे नहीं उतार सके, वह आपकी तीन पारियों में ही वाराणसी होगई ! मेरी बुआजी जो मुहल्ले-भर के झगड़ों में सहज ही विजय-श्री प्राप्त कर लेती थीं, आपसे उलझ कर बस बसीं ! यही क्यों, पड़ौसी बजुआँ, मोदी सालिगराम धीसा तमोली गब्बर हलवाई मधू पहल वान जिन सबको मैं अपने मैले-कुचैले कपड़ों में खाँसते-खंखारते देखने का अभ्यासी होगया था, वे सब आपकी सेवा के लिए यहाँ से विदा होचुके हैं। छबीली कुँजड़िन और साँवरी मालिन जो ग्राहकों के चुक जाने पर भी अपने अनन्त झगड़ों को बड़ी ही सुखद नागरिक भाषा में चुकाया करती थीं देखता हूँ कि पिछले सप्ताह से उनकी सुमधुर ध्वनि भी खिड़की की राह मध्य-मंथर गति से मेरे कमरे में प्रवेश नहीं कर रही। और हाँ, आपके प्रताप से अपरिचित उस गगोसी डाक्टर का वह मगोसी कम्पाउण्डर, जो डटकर मिक्चर में पानी मिलाया करता था, कल से डिसपेन्सरी से गायब है !

हे हे मलेरिया महाराज

इसमें तिल-मात्र भी सन्देह नहीं कि हम संसारियों पर आपकी कृपा हित की दृष्टि से ही होती है। यदि प्रति वर्ष हजारों-लाखों

जीवों पर आप यों कृपा न करते रहें, तो हिन्दुस्तान की आबादी भला कहाँ समा सकती है ? लोग आपस में ही कट-कट कर मरने लगें नित्य नये महाभारतों की सृष्टि हो प्रति वर्ष एक विश्वयुद्ध की सम्भावना बनी रहे और न जाने क्या-क्या होने लगे ? अस्तु, हम संसारियों को अकाल मृत्यु से बचाने के लिए, गरीबी बेरोजगारी और दूसरी झन्झटों से मुक्त रखने के लिए और सन्तति-निग्रह एवं ब्रह्मचर्य जैसी व्यर्थ चीजों के प्रचार-निषेध के लिए ही आपने धरा धाम को सुशोभित किया है। आप अशरण शरण हो ! आप दीनबंधु हो !! आपकी जय हो जय हो, जय हो !!!

हे अशरण शरण

अब कुनैन नहीं खाई जाती । कान झनझना उठते हैं दिमाग भिनभिना उठा है और तबियत——उसकी न पूछो प्रभो ! अपने ही घर में अपनी शरणार्थियों की सो हालत होरही है ! हिन्दुस्तान पहले से ही प्राथमिक चिकित्सा में दक्ष होजाय यह सोचकर आपने घर घर को अस्पताल में पलट दिया है। धनाज का राशन है। कन्ट्रोल टूटने पर वह भी गायब होने वाला सुनते हैं ! इन सबका आपने पेशगी उपाय कर दिया है कि पहले तो आपका कृपा-पात्र कुछ खाने-पीने के लायक ही न रहे, फिर अगर खाने-पीने पर उतर ही आए तो ज्यादा खाया ही न जाय और जो भी खाए, वह पचा न सके।

बहुत कृपा प्रभो

दीपावली बीत गई। उस अखंड दीपराशि में निश्चय ही आपके वाहनों (मच्छरों) का अभाव होगया होगा। इसलिए आपको कहीं आने-जाने में बड़ी असुविधा होती होगी । फिर जिस काय के लिए आपने धरती-तल पर अवतार धारण करके भारतवर्ष में प्रवास किया था उसे हमने हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों में स्वतः ही पूर्ण कर लिया है। अब आप अपर लोकों को प्रस्थान करें तो बड़ा शुभ हो । देखिए, सुदूर पश्चिम आपको बुलौवा देरहा है, उधर

अफ्रीका आपका आह्वान कर रहा है । लेकिन भारतखंड की महा महिमा से प्रभावित होकर यदि आप इसे छोड़ना ही न चाहते हों तो हे कूटनीतिज्ञ आप अपना हैड-क्वाटर करांची में क्यों नहीं खोल लेते ?

ओ३म् शान्ति शान्ति शान्ति !

१३

मुसीबत है

"अजब मुसीबत है! अभिज्ञान शाकुन्तल या मेघदूत पढ़ने बैठता हूँ तो किताब छीन लेती है कि अब तुम्हारी उम्र ऐसी पुस्तकें पढ़ने की नहीं रही। वैराग्य-शतक या भगवद्गीता लेकर बैठता हूँ तो सिर पकड़कर धम्म से बैठ जाती है कि हाय राम! घबड़ाकर कभी सिनेमा में जा बैठता हूँ तो लौटने पर घर में एक नया थियेटर तैयार मिलता है। और जब सबसे ऊबकर तुलसीकृत रामायण गाने लगता हूँ तो कहने लगती है कि अब रात में तो जरा आराम कर लेने दिया करो!"

कोई एक-दो बार की बात नहीं हजारों बार अपनी 'उन' से कह-कहकर हार गया हूँ कि देखो बात-बात में दखल देना अच्छा नहीं होता । पर 'वे' हैं कि जैसे अमरीका की धमकियों की कब चिन्ता नहीं करता, या जैसे हमारे देशवासी नेताओं के भाषणों को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दिया करते हैं, वैसे ही हमारी श्रीमतीजी हमारी बात पर कोई ध्यान नहीं देतीं ।

अरे भाई, साग-भाजी में रसोई-पानी में कपड़े-लत्ते में जेवर गाँठे में, चलन-व्यवहार में और घर-गृहस्थी की दूसरी छोटी-बड़ी चीजों में अगर आप दखल रखती हैं तो ठीक है । बच्चों की पढ़ाई में घर के प्रबन्ध में, मेहमानों की खातिर में आप दिलचस्पी लेती हैं तो उसे कौन बुरा बताता है । लेकिन मुझे कुर्ता छोड़कर बुशशर्ट पहनना चाहिए और धोती को खूँटी पर टांग टांगों में पतलून लटका लेनी चाहिए—यह सलाह भला आप क्यों देती हैं ? मेरी लम्बी लम्बी मूछें रखना, जरा सादगी से चलना, तनिक कम बातें करना या बाहर छड़ी लेकर निकलना—समझ में नहीं आता उनको क्यों नहीं सुहाता ?

ठीक है, आप मलमल छोड़कर वायल खरीदिए, लामन फेंककर सिल्क लीजिए, जार्जेट छांटिए, सलवार पहनिए, गरारा पहनिए—और सच बताऊँ, मुझे तो उनके पैंट पहनने पर भी कोई खास एतराज नहीं है परन्तु, भगवान के नाम पर मेरे खादी के भोले कुर्ते को तो रोजाना मत कोसिए ।

बाबा, खादी के दोष-गुण मैं तुमसे अधिक जानता हूँ । तकली पर सूत निकालते-निकालते अँगुलियों में बल पड़ गए हैं । खादी को यह कहना कि वह जल्दी फटती है, फटकर सिल नहीं सकती, दो घंटे बाद मैली होजाती है, मोटी होती है, खोटी होती

"अजब यह भी कोई बात हुई कि वे कौन थे ? ये कौन हैं ?" (पृष्ठ ८९)

है, यह होती है, यह होती है—कोई बात हुई ?

खैर, मेरे रहन-सहन और कपड़ों में वह दिलचस्पी लेती हैं और उनमें अपनी रुचि का परिवर्तन करना चाहती हैं तो करो भाई। वेद-शास्त्रों के अनुसार इस शरीर के अर्द्धांग पर तो उनका अधिकार है ही। लेकिन यह क्या बात हुई कि सुबह उठते ही खानातलाशी शुरू होजाती है कि यह चिट्ठी किसकी है, यह पुर्जा कहाँ से आया है, ये नोट कैसे हैं और रात-रात में यह रूमाल किसका उठा लाए हो ?

अरे भई, एक तुम न मानो तो क्या, दुनिया तो मुझे भला आदमी मानती ही है। कवि हूँ पत्रकार हूँ—सुबह से लेकर शाम तक २० आते हैं और ५० जाते हैं। अब यह भी कोई बात हुई कि वह कौन थे वह कौन हैं ? आज वह फिर क्यों आए ? तुम बार-बार इनके यहाँ क्यों जाया करते हो ? मुझे इनका यहाँ आना पसन्द नहीं। यह अच्छे आदमी हैं। वह बुरे आदमी हैं। यह चतुर हैं। वह भोंदू हैं। इन्हें देखकर मेरा मन जलाने को करता है। इनके सामने मैं चाय लेकर नहीं आऊँगी। मैं कहता हूँ कि जब पूछा जाय और आवश्यकता हो तब तक के लिए आप इन शुभ सम्मतियों को क्या अपने पास नहीं रख सकतीं ?

राशन कम होगया आटे में शकरकन्द मिला है। चावल ऐसे आते हैं, सूजी नहीं मिलती, मैदा कहाँ गई—ठीक है, पूछिए इन बातों को कौन टोकता है ? लेकिन कृपा करके यह तो बताइए कि गेहूँ के भावों के साथ सोने के भावों का क्या सम्बन्ध है ? साड़ियों के डिजाइनों का क्या रिश्ता है ? अप्सरों के सैटों की क्या तुक है ?

मैं तो तंग आगया हूँ—हजार तरह से कह देखा, मगर उनका हर बात में दखल देना बन्द ही नहीं होता। अजब मुसीबत है। अभिज्ञान शाकुन्तल या मेघदूत पढ़ने बैठता हूँ तो किताब हाथ से छीन लेती हैं कि अब तुम्हारी उम्र इन पुस्तकों के पढ़ने की नहीं रही। वैराग्य-शतक या भगवद्गीता लेकर बैठता हूँ तो सिर पकड़कर

धम्म से बैठ जाती हैं कि हाय राम ! उकताकर किसी सिनेमा में जा बैठता हूँ, तो लौटने पर घर में एक नया थियेटर तैयार मिलता है। और जब सबसे ऊबकर तुलसीकृत रामायण गाने लगता हूँ तो कहने लगती हैं कि अब, रात में तो आराम कर लेने दिया करो !

मैम्म झुंझलाकर सोने लगता हूँ तो कहती हैं—यह क्या किया, उसे जला दो। जलता हुआ छोड़ देता हूँ तो झपटती हैं—जरा कम कर दो। जल्दी सोने लगता हूँ तो कहती हैं—अभी ६ बजे से ही खुर्राटे लेने लगे ! देर तक नींद नहीं आती तो हर मिनट पर टहोकती हैं—क्या हुआ आज नींद क्यों नहीं आरही ?

एक दिन मैं उन्हें डाक्टर के पास लेगया। डाक्टर देखकर मुस्करा दिए !

मैंने हैरान होकर पूछा "क्यों ?"

बोले "इलाज की जरूरत इन्हें नहीं, आपको है।"

मैंने आश्चर्य से अपने शरीर पर निगाह डाली। कहीं कोई रोग दोष दिखाई नहीं दिया !

डाक्टर बोले, "आप क्या काम करते हैं ?"

मैंने कहा "काम ? अजी आप मुझे नहीं जानते ? मैं हूँ !"

बोले, "बस, यही बीमारी है इसीका इलाज करवाइए !

मैंने हैरान होकर पूछा, "डाक्टर, क्या कहते हैं आप ? कविता, लेखन, पत्रकारिता—ये सब बीमारी हैं ! मैं समझा नहीं ?"

"और नहीं क्या ? ऐसी बीमारी जिसका कोई इलाज नहीं," डाक्टर कहने लगे।

"फिर भी डाक्टर, कुछ बताइए, प्लीज़ !" मैंने घबराकर कहा

तो बोले, "इसका इलाज यही है, आप इन्हें बीमारी मान लें। जिस दिन ऐसा समझ लिया, समझो, बीमारी चली गई !"

१५

साहित्य का उद्देश्य

'जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं मात्र आर्डर पर सप्लाई करता हूँ। मैंने लेख पत्रों की माँग पर लिखे हैं नाटक परीक्षाओं में लगने को तैयार किये हैं और अब आर्डर पर उपन्यास लिख रहा हूँ। साहित्य का इससे भी अधिक कोई और उद्देश्य है क्या ?'

साहित्य का भी क्या कोई उद्देश्य होता है ? मेरी समझ में तो अभी तक आया नहीं । पर होता कुछ अवश्य होगा । क्योंकि अगर सचमुच कोई उद्देश्य न होता, तो तारों भरी रात की मद होशी में जब संसार सुख की नींद में बेसुध पड़ा रहता है, ये कवि लोग जलती आँखों से चन्द्रमा को न ताका करते तारों से तार न मिलाया करते, वायु की सिसकियाँ न सुना करते और अकारण ही ये बुद्धिजीवी अपने देश नगर, मुहल्ले और पड़ोस क्या पास लेटी चन्द्रमुखी पत्नी को भूलकर कभी चाँदनी की याद न करते कभी निशा की साड़ी न खींचते कभी स्वर्गंगा में विहार न करते और कभी उषा के अरुणिम कपोलों पर उनकी ललचाई नजरें न फिसलतीं ।

उद्देश्य न होता तो क्या कहानीकार स्वयं अपनी कहानी को भूलकर बस के स्टैंडों कॉफी हाउसों क्लबों नाचघरों और वेश्या लयों तक में दौड़-दौड़कर बार-बार पहुँचते ? आवारों की तरह बाजारों में घूमते ? पार्कों में फिरते ? प्लेटफार्मों पर ताकते ? गलियों को नापते ? खिड़कियों को झाँकते ?

उद्देश्य न होता तो यों आज के नाटककार वर्तमान को भूल कर ध्रुव का नाटक रचा करते ? भविष्य के पर्दे उठाया करते ? उपन्यासकार इस कागज की तंगी में भी पोथे-पर-पोथे रचते-विरचते चले जाते ?

उद्देश्य न होता तो आलोचक इतना गला क्यों फाड़ते ? साहित्य क्यों छपता ? क्यों बिकता ?

सचमुच, कुछ-न-कुछ उद्देश्य तो साहित्य का होना ही चाहिए।

पर सच बताऊँ, अब तक इसका उद्देश्य मेरी समझ में नहीं आया ? हाँ, मेरी साहित्य की साधना किसीसे कम नहीं । अपने साहित्यिक जीवन में प्रवेश करने की रजत जयंती मनाने में अब केवल

कुछ-न-कुछ रहस्य तो मालिक का होना ही चाहिए।" (पृष्ठ ६१)

५ वर्ष की ही देर बाकी है। इस बीच मैंने यह नहीं कि सिर्फ दिल्ली में रहकर भाड़ ही झोंका हो—स्कूलों के नोट्स और किताबों की कुञ्जी से लेकर साहित्य और दर्शन पर बड़े-बड़े ग्रन्थों को जन्म दिया है। स्फुट कविताएँ लिखी हैं, खंडकाव्य छपाए हैं, गल्प लिखी है, नाटक लिखे हैं, और उपन्यास लिख रहा हूं। टनों कागज, प्रकाशक लोग, मेरी कृतियों पर अब तक गला चुके हैं। और यह भी नहीं कि पुस्तकें छप कर ही रह गई हों। वे बिकी हैं। उनके संस्करण भी हुए हैं। जनता ने उन्हें किस हद तक पसंद किया है, यह तो मैं नहीं जानता, मगर समालोचकों के शानदार सर्टिफिकेट उन्हें अवश्य प्राप्त होगए हैं।

लेकिन अगर आप मुझसे पूछें कि लिखने के पीछे मेरा क्या उद्देश्य है, तो बात आपको चाहे निराशाजनक प्रतीत हो, मैं आप से कुछ छिपाऊँगा नहीं।

बात यह हुई कि बचपन में पढ़ना-लिखना कुछ बन नहीं पाया। सोहबत-सोसाइटी भी नहीं मिली। स्वास्थ्य और सलीका भी नहीं था। घरवाले निकम्मा कहते थे और परिवार वाले आवारा। बाजार वाले विश्वास नहीं करते थे और समाज वालों से यद्यपि अभी सीधा वास्ता नहीं पड़ा था, मगर पूत के पाँव पालने में ही देखकर, पहले से ही उनके कान-पूँछ खड़े होगए थे।

अपने आपको यों चारों ओर से घिरा पाकर मैं विक्षिप्त-सा हो उठा। यह ठीक है कि मैंने हाथ-पैर नहीं फेंके, कपड़े भी नहीं फाड़े, खाना-पीना भी नहीं छोड़ा, पर हाँ, मैं बकने-झींखने अवश्य लगा। २४ में से १२ घंटे मेरे बड़बड़ाते बीतते। मेरी माँ को विश्वास होगया कि अब बस, कपड़े फाड़ने की नौबत आने ही वाली है। लेकिन तभी अकचकाकर एक दिन देखता क्या हूँ कि मेरी इसी बड़बड़ाहट को लोग कविता कह उठे हैं। पहले तो मैंने लोगों के इस कथन पर स्वयं विश्वास नहीं किया मगर जब मित्रों से प्रारम्भ होकर उत्सवों और सभा-सम्मेलनों तक में मेरी

किया करते हैं।

साहित्य को लक्ष्मी की झंकार न कहकर, वासने मनोवेगों की झंकार कहते हैं। सीधे स्वहित की साधना न मानकर, उसे लोकहित का साधन बताते हैं। साहित्य को भौतिक सत्त्वों में सहायक न समझ कर उसे लोकोत्तर आनन्द का दाता समझ बैठे हैं। क्या समझ है इन समालोचकों की कि जो मन की विकृति से, मस्तिष्क की अस्वस्थता से और शारीरिक ह्रास और त्रास से जन्म लेता है उसे लोगों ने मानवता का उद्धारक समझ लिया है।

साहित्य और मानवता का भी कोई सम्बन्ध है, यह मैं आज तक नहीं समझ सका? मैं पूछता हूँ कि विरह-प्रपीड़ित यक्ष ने बादलों द्वारा अपनी प्रियतमा को सन्देश भेजकर मानवता का क्या कल्याण किया? दुष्यन्त ने कण्व के आश्रम की शकुन्तला से विवाह करके मनुष्य जाति पर कौन-सी कृपा की? राम ने अकेली अपनी सीता को पाने के लिए करोड़ों नर-वानरों को कटवा दिया सोने की लंका को उजाड़ फेंका, इन कृत्यों के बखान के लिए बड़े-बड़े पोथे रचना—क्या वाल्मीकि और तुलसीदास की मनुष्यता थी? कृष्ण ने भारत भर के तेजस्वी वीरों को लड़ा-भिड़ाकर मरवा डाला, क्या व्यासजी महाराज 'साधुओं का परित्राण' इसी प्रकार करना चाहते थे?

तीन पैंड वृन्दावन से मथुरा और चंडीदास, विद्यापति एवं सूरदास बेचारी राधा को रुला-रुलाकर मारते रहे, गोपियों को जीवन-भर तरसाते रहे और उनके प्रशंसक मानवता की इस निर्मम हत्या पर वाह-वाह करते रहे। अच्छा हुआ कि इन महानुभावों की परिपाटी [illegible] चली और [illegible] के सिनेमाई कलाकारों ने उस भूल [illegible] भी [illegible] देखते नहीं, कसे आसानी [illegible] ठेठ से भिन्न जाते हैं। [illegible] की पैसा खुद ही से [illegible] आते

"साहित्य का रहस्य लिखते जाना और छपाते जाना और । (पृष्ठ ११)

जरूर हैं, मगर शीघ्र ही या तो अदालत के कटघरे में या किसी के क्षणिक आँसुओं की बूँदों से उनका शमन होजाता है और 'चट्ट मगनी पट्ट ब्याह' की शहनाई बजने लगती है।

अब बताइए, साहित्य का उद्देश्य यह होना चाहिए या वह ? मनुष्यता इसमें है, या उसमें ? मनोवेग इसमें अधिक बोझिल होते हैं या उसमें ? कहिए "सारसप्पा" अधिक गाया जाता है या "मो-सम कौन कुटिल खल कामी" ? बताइए साहित्य अल्पमत के कुछ ठूंठ पण्डितों के लिए है, या स्वतन्त्र भारत के, कोटि-कोटि संवेदनशील युवक-युवतियों के लिए ?

१५

पत्रकार की पहचान

"उसकी मैसली-कुरैलसी-सी आँखें पन्ने-नीलमों-से
शान मोर के पंखों-सी छितरी हुई लंबी-लंबी अंगुलियाँ
और कम खाई हुई पेट की हड्डी दूर से ही पुकार
पुकार कहती है—अरे, सभो मैं पत्रकार हूँ !"

१५

पत्रकार की पहचान

"उसकी मेंढकी-कुरेदती-सी आँखें चश्मे-चौकन्नी-से काम मोर के पंखों-सी बिखरी हुई लंबी-लंबी अंगुलियाँ और कम खाई हुई पेट की हड्डी दूर से ही पुकार पुकार कहती है—अरे, सभी मैं पत्रकार हूँ।"

मूर्खों के समाज में चाहे पंडित को न पहचाना जा सके और चाहे पंडितों के समाज में मूर्ख की पहचान न हो लेकिन आजकल के सभ्य समाज में पत्रकार चाहे जैसे कपड़े पहनकर आए, उसे पहचानने में कोई ग़लतफ़हमी नहीं हो सकती।

मुँह खुलने पर तो बछड़े से लेकर पांडेय बेचन शर्मा उग्र तक की पहचान होजाया करती है, लेकिन यह जो पत्रकार नाम का प्राणी है उसे आँख कान नाक, हाथ की अंगुलियों और रीढ़ की हड्डी से अँधेरे में ही भाँप लिया जा सकता है।

उसकी भेंगती-कुरेदती-सी आँखें, पत्ते-चौंकने-से कान, मोर के पंखों-सी छितरी हुई लंबी-लंबी अंगुलियाँ और खम खाई हुई रीढ़ की हड्डी दूर से ही पुकार-पुकार कहती है—अरे, बचो मैं पत्रकार हूँ।

जो दुनिया की खबर रखता हो, मगर जिसे खुद अपनी अपने घर की, घरवाली की कोई खोज-खबर न हो जो दुनिया की खबर लेता हो, मगर खुद उसकी खबर लेने वाला दुनिया में कोई न हो, जिसके पास न अपना पत्र हो न अपनी कार हो, मगर फिर भी जो पत्रकार कहलाता हो—उसे तो सूमता क्या अन्धा भी दूर से ही पहचान सकता है।

कवियों के सम्बन्ध में जो यह कहावत है कि वे जन्मजात होते हैं, बनाए नहीं जा सकते उसे तो इस नई जनगणना में, कवियों की महती जनसंख्या ने ग़लत सिद्ध कर दिया है, लेकिन, पत्रकार जन्म से ही पत्रकार होते हैं, यह बात एकदम सच है।

बचपन में जो बालक सबसे अधिक दंगा करता हो निर्भय गालियाँ बकता हो दिन-भर घर से बाहर घूमता हो, पिता की फटकार और मास्टर की मार का भी जिसे बिल्कुल भय न हो—

एकदम समझ लेना चाहिए कि लड़का बस पत्रकार बनकर रहेगा।

यह भविष्यवाणी १०० में ९९ जगह सही उतरेगी। एक प्रति शत गलती की संभावना सिर्फ तभी हो सकती है जबकि ऐसा सरकारी बालक १६ वर्ष से भी कम उम्र में किसी लड़की को बिना सूचित किए ही, प्रेम कर उठे और सूचित होने पर वह लड़की उसे दुत्कार दे, तो समझ लीजिए कि लड़का हाथ से गया यानी अब पत्रकार नहीं बन सकता। इस बेचारे के करम में तो केवल कवि होना ही लिखा है।

यद्यपि न मुझे शुद्ध हिन्दी आती है, न अंग्रेजी। न बी० ए० हूँ न विद्यालंकार। एक-एक करके १७ पत्रों को छोड़ने के अतिरिक्त और कोई सनद या 'डिप्लोमा' मेरे पास नहीं है, सठियाने में भी अभी पूरी एक रजत जयन्ती बाकी है, मालिकों या मजदूरों की किसी यूनियन से भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी मैं पत्रकार हूँ। क्या आप मेरे पत्रकार बनने की कहानी सुनिएगा ?

मैं पत्रकार कैसे बना, इसकी कहानी कम रोचक नहीं। वह इस प्रकार प्रगतिशील है कि मास्को वाले भी उस पर गर्व कर सकते हैं। बेकार लोग उसमें से सार ग्रहण कर सकें, इसलिए उसे यहाँ दे रहा हूँ—

बात यह हुई कि बचपन में मैं बेहद शैतान था। घर से स्कूल की कह जाता और दिन-भर गलियों में गिल्ली-डंडा उड़ाकर ठीक चार बजे वापस लौट आता। इम्तिहान के दिनों में बीमार बन जाता और छुट्टियों के दिनों में छुट्टा फिरा करता। १७ वर्ष की अवस्था तक सरामा-सरामा आराम से ७वें दर्जे तक तो पहुँच गया, लेकिन उसको उलांघने का परमिट साथ हनुमान चालीसा पढ़ने और शिवजी पर रोज शाम को दीपक जलाने के बाद भी नहीं मिला। जब एक, दो तीन और लगातार चार साल तक की कड़ी मोर्चेबन्दी के बाद भी मैट्रिक का मोर्चा सफल होता दिखाई नहीं दिया और ब्रह्मचर्य पालन करने की अवधि भी शनै शनै समाप्त होने लगी

तो मैं सफलतापूर्वक मोर्चे से वापस हट आया।

सवाल हुआ कि अब क्या किया जाए? कुछ दिन का समय तो घरवालों ने सेहत सुधारने के लिए सुविधापूर्वक प्रदान कर दिया लेकिन जैसे ही गधा-पच्चीसी समाप्त हुई (पच्चीस वर्ष की उम्र पूरी हुई) उन्होंने साफ कह दिया कि बेटे अब तुम जानो और तुम्हारा काम। कमाओ-खाओ, मौज करो!

तब मैंने दफ्तरों से लेकर ट्यूशनों तक की तलाश में गली बाजारों के चक्कर लगाने प्रारम्भ कर दिए। जब उस पर कोई राजी नहीं हुआ तो बजाज से लेकर हलवाई तक की दूकान पर नौकरी के लिए लोगों से अभ्यर्थना की। मगर कोई मुझे अधिक बुद्धिमान बताकर इन्कार कर देता तो कोई कमअक्ल कहकर दरवाजा दिखा देता। कोई कहता कि काम करने की तुम्हारी उम्र निकल गई और कोई कहता कि जाओ फिर से पाठशाला में भरती हो जाओ।

शुरू-शुरू में कुछ दिनों तक तो माताजी धोबी की धुलाई, ठोड़ी की छिलाई और हाथ-खर्च के लिए चुपके-चुपके कुछ पैसे देती रहीं, मगर अब उनके धैर्य ने भी जवाब दे दिया और बाजार से परिवार के नाम पर उधार मिलना भी बन्द होगया तो हमने सोचा कि इस झूठी कुल की लाज-शर्म में क्या खोगे? और, एक दिन हिम्मत करके हमने पान-बीड़ी का खौमचा लगाना प्रारम्भ कर ही तो दिया!

मेरे इस परम प्रगतिशील कार्य से मेरे परिवार वालों का मस्तक गर्व से ऊँचा उठना चाहिए था, मगर वह शर्म से नीचे झुक गया। उनकी नाक बढ़ती नहीं तो कम-से-कम स्थिर तो रहनी ही चाहिए थी, मगर उनके कहने से मालूम हुआ कि वह कुछ छोटी होने लगी है। जो भी हो, मुझे यह पेशा छोड़ने के लिए मजबूर किया जाने लगा। पर मैं टस-से-मस नहीं हुआ।

क्यों होता? ६-७ घण्टे की फेरी से न केवल मेरा हाथ-खर्च ही सीधा होने लगा, वरन् मेरे बापस के कुर्ते की जेब में हर रोज

पत्रकार
चाहिये

"कि तभी एक दिन एक टूटी-सी बिल्डिंग के एक कोने के द्वार की बगल में एक नोटिस-बोर्ड दिखाई दिया। लिखा था—पत्रकार चाहिए!" (पृष्ठ १०१)

सिनेमा के लिए भी पैसे खनकने लगे थे।

पान-बीड़ी के खोमचे से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि मुझ में भी अब आत्म-विश्वास जगने लगा। मैं, जो बड़ों से बातें करते सकुचाता था, अब उनसे बहस करने लगा। मैं जो अब तक मूर्खों के समुदाय का ही एक विशिष्ट सदस्य समझा जाता था, अब समझदारों को भी उपदेश देने लगा। पान-बीड़ी के प्रताप से मेरी पहुँच तांगेवालों से लेकर कोठे वालों तक होगई। स्कूल के चपरासी से लेकर दरोगाजी तक को मैं सलाम करने लगा। जैसे मेरी बीड़ियाँ जनता के हर वर्ग के मुँह लगी थीं, वैसे ही जनता के हर वर्ग की चर्चा मेरे मुँह लग उठी थी।

विचारशून्य इस मस्तिष्क में अब भाँति भाँति के तूफान उठने लगे। मैं पनवाड़ी की दुकान से लेकर होटल चलाने तक के स्वप्न देखने लगा। पर तत्काल ही एक दिन एक बीड़ी-बंडल बेचते-बेचते एक दहरी नेता को देखकर मेरे मन में ज्ञान का उदय हुआ। मन में सोचा, दौलत तो सब कमाते हैं, मुझे तो जन-सेवा का कोई मार्ग अपनाना चाहिए। मैंने चुंगी की मेम्बरों से लेकर असेम्बली की 'एसेंसेगीरी' तक की बाबत गौर किया। यह भी सोचा कि कांग्रेस में जगह न हो तो सोशलिस्ट पार्टी में ही घुस पड़ूँ। साल दो साल में अपनी-पराई सेवा के द्वार खुल ही जाएंगे। लेकिन मन कहीं स्थिर नहीं हो पारहा था।

कि तभी एक दिन, एक टूटी-सी बिल्डिंग के छोटे-से द्वार के बगल में एक चिपका नोटिस-बोर्ड दिखाई दिया। लिखा था—"पत्रकार चाहिए। जैसे भगवान् बुद्ध को अक्षयवट के नीचे एक दिन मुक्ति का रहस्य एकाएक ज्ञात हुआ था, जैसे गाँधीजी के समक्ष एक रात एकाएक असहयोग का अस्त्र प्रकट होगया था और जैसे सैकड़ों वर्ष के गुलाम भारत में एक दिन आजादी टपक पड़ी थी, ठीक वैसे ही मेरी सफलता के बन्द ताले में आज ताली लग ही तो गई।

आव देखा न ताव, अपना पान-बीड़ी का पल्ला राह चलते एक

भाई को ठिका मैं एक साँस में बिल्डिंग की २७ सीढ़ियाँ खटाखट पार कर गया और चपरासी की हें-हें की परवाह न करता हुआ सीधा डायरेक्टर के सामने था दन्नाया।

उन्होंने प्रश्न-सूचक सिर ऊपर उठाया।

मैंने कहा, 'पत्रकार बनने की तमन्ना है।'

प्रश्न हुआ 'अब तक क्या करते रहे हो?

कहा "केवल ज्ञान-संचय।'

पूछा, 'क्या मतलब?'

"यही कि जनता के प्रत्येक वर्ग से उसकी समस्याओं की एक-एक कर घूम-घूमकर जानकारी प्राप्त करता रहा हूँ।"

'पढ़ाई-लिखाई कितनी हुई है?"

कहा पच्चीस साल तक सब-कुछ छोड़कर पढ़ता ही रहा हूँ। हाँ डिग्रियों का मोह कभी नहीं किया। हिन्दी-अंग्रेजी लिख-पढ़ लेता हूँ उर्दू-फारसी बोल-समझ लेता हूँ पंजाबियों का पड़ोस है, मदरासियों से दोस्ती है।'

प्रश्न हुआ "वेतन कितना लोगे?

तो कहा "मैं इस 'लाइन' में वेतन के लिए नहीं आरहा जो दोगे, ले लूँगा।

हुक्म हुआ, "जाओ आज से ही काम करो। दिन-भर घूमो और शाम को खबरें लाकर मुझे दिखाना।

भला इस काम में मैं कभी असफल हो सकता था? सास बहू की लड़ाई से लेकर तांगा-मोटर-भिड़न्त तक के समाचार रंग रंग कर देने लगा और वे बड़े-बड़े शीर्षकों से अखबार में बाहर भीतर छपने लगे।

शुरू-शुरू में सहकारी सम्पादकों के दल मुझ नौसिखिए मज मबी को देखकर काटने दौड़े, मगर स्वस्थ शरीर और मेरे गले में डायरेक्टर का पट्टा देखकर वे गुर्राकर ही रह गए! धीरे-धीरे पटरी बैठ गई।

अब मैंने तांगा-मोटर-भिड़न्तों को छोड़कर युवक-युवतियों के बैठने-भागने और रहस्य के भण्डाफोड़ों में दिलचस्पी ली। दस-पाँच मामले ऐसे छापे कि शहर में सनसनी मच गई, अखबार की बिक्री चौगुनी होगई और नगर का प्रतिष्ठित समाज मुझसे भय खाने लगा।

तब मैंने एक नई रीति अपनाई। लिखता कि आज अमुक बाजार के एक प्रतिष्ठित सेठ के यहाँ की भयंकर खबर हमारे पास आई है। उसका पूरा विवरण कल के अंक में पढ़िएगा। अखबार हाथ में आते ही सेठ की फूंक सरक जाती। लोगों में चर्चा फैलती सौदा होता और १०० में से ५० मामले दब जाते। इसमें संपादक की भी पत्ती रहती।

धीरे-धीरे मैं सिटी रिपोर्टर से विशेष सम्वाददाता हुआ और फिर विशेष प्रतिनिधि। एक पत्र से दूसरे में गया और दूसरे से तीसरे, चौथे और पाँचवें में। कांग्रेसी अखबार में कांग्रेस के गुण गाता और महासभाई पत्र में पहुँचता तो कांग्रेस को डटकर कोसता। सेठों के अखबारों में जाता तो हड़तालों की निन्दा करता और सोशलिस्टों के अखबारों में मजदूरों को हड़ताल के लिए उकसाता। यही नहीं, एक ही अखबार में एक ही कलम से मैं अग्रलेख में सरकार का समर्थन करता और समाचारों में उसकी कलई खोलता। इन्हीं गुणों के कारण पत्रकार मुझे महान् मानने लगे सरकारी अधिकारियों में मेरा सम्मान होने लगा और सेठों की मोटरें मेरे दरवाजे पर खड़ी रहने लगीं। दुनिया भूल गई कि मैं पान-बीड़ी फरोश हूँ।

अभी कुछ दिन हुए पत्रकारों ने मेरी जयंती मनाई थी। उस अवसर पर जो मैंने भाषण दिया था, उसके कुछ ऐतिहासिक स्थल आपके ज्ञान-वर्द्धन के लिए यहाँ लिख रहा हूँ—

"भाइयो और बहनो!

"आज की दुनिया में 'प्रेस' का कितना महत्त्व है यह आप जानते ही हैं। दुनिया की व्यवस्था, उसकी शान्ति और समृद्धि 'प्रेस' पर ही निर्भर है। इस

बात त्रेता युग की है। तब बिना रामराज्य परिषद् के भारत में रामराज्य था और बिना जनसंघ के कोल भील, किरात तथा वानर तक प्रभस भारतीय संस्कृति का निर्माण कर रहे थे।

हुआ यह कि बूढ़े राजा दशरथ ने अपनी सबसे छोटी रानी के कहने पर रामचन्द्र को १४ वर्ष का बनवास दे दिया। उन दिनों आज का सा प्रजातन्त्र नहीं था फिर भी अयोध्या की प्रजा को राजा की यह बात पसन्द नहीं आई। उन दिनों समाजवादी और साम्यवादी भी नहीं थे नहीं तो हड़ताल होगई होती, थाने लूट लिए गए होते और राजा के महलों में अवश्य ही आग लगाने की चेष्टा की गई होती। धरना देने की कला भी लोगों ने तब नहीं जानी थी। नहीं तो राजमहल के चप्पे चप्पे पर अयोध्या नगर की नारियाँ छागई होतीं। लेकिन फिर भी प्रजा कलियुग के संवत् २००८ की तरह अकर्मण्य नहीं थी, उसने अविचारी राजा के राज्य को रामचन्द्र के साथ-साथ छोड़ना तय कर लिया। जैसे ही राम का रथ बन की ओर चला सारी अयोध्या उसके पीछे उमड़ पड़ी। बात-की-बात में दशरथ की राजधानी खाली होगई।

रामचन्द्रजी अभी कृपलानीजी की तरह बूढ़े नहीं हुए थे, नहीं तो वह भी प्रजा के असंतोष से पूरा लाभ उठाते और राजधानी के बाहर ही कहीं झोंपड़ी डालकर प्रजा पार्टी की स्थापना कर बैठे। आजकल के अवसरवादी चाहे उन्हें मतिमन्द ही क्यों न कहें, उन्होंने वसा कुछ नहीं किया और नदी के तीर पर पहुँचकर स्वयं तो नाव में सवार हुए और जनता को संबोधित करते हुए कहा

"नर और नारियो, मैं तुम्हारे स्नेह से धन्य हुआ। लेकिन राजा बूढ़े हैं। भरत घर पर नहीं हैं। राजधानी सूनी है। तुम सब लौट जाओ। मैं अवधि समाप्त होते ही अवश्य लौट आऊँगा।

राम आज के नेताओं की तरह अभागे नहीं थे कि जिन्हें जनता की अनुशासनहीनता के लिए 'सैन्वर' देने पड़ते । प्रजा ने उनके उपदेश का मर्म समझा और उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन किया गया । समस्त नर-नारी अयोध्या पुरी को वापस लौट गए ।

लेकिन दुर्भाग्य से उस जनता में कुछ ऐसे भी जीव थे जो न नर थे और न नारी । फिर २०वीं शताब्दी में जिस "कामन सेन्स" का भयानक विकास हुआ है, वह भी उनके पास नहीं थी । उन लकीर के फकीरों ने तत्काल तय किया कि रामाज्ञा केवल नर और नारियों पर लागू होती है, हम पर नहीं । और वे सब अयोध्या न लौट कर जहाँ-के-तहाँ जम गए ।

चौदह वर्ष बाद जब रावण विजय करके रामचन्द्रजी पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौटने लगे तो उसी नदी तट-पर उन्हें बहुत से लोग लाल रूमाल हिलते दिखाई दिए । तब के हवाई जहाज कोई आज की तरह तो थे नहीं कि बिना हवाई स्टेशन उतर ही न सकें । वे जल-जंगल, खेत-खलिहान, पहाड़-मदान कहीं भी बिना दुघटना के उतर सकते थे । राम ने चाहा और पुष्पक विमान धरती पर आ लगा ।

अयोध्या न लौटने वाले इन सत्याग्रहियों की वेषभूषा १४ वर्षों में कुछ गजब ही भव्य हागई थी । नाइयों के अभाव में इनकी दाढ़ियों ने नाभियों की सीमा को पार कर लिया था और बालों की लटाएँ चतुर्दिक पृथ्वी को चूमने लगी थीं । वस्त्रों के नाम पर सिर्फ कोपीन ही इनके तन पर बची थीं और वन्य मूल फल के सेवन से इनके शरीर सहज ही योगावस्था को प्राप्त कर गए थे ।

भगवान राम ने जब इन ऋषि मुनियों को यों विह्वल देखा तो करुणार्द्र हो उठे और प्रणिपात करते हुए बोले—"हे मुनिसत्तमो, पृथ्वी के सभी निशाचरों का नाश होगया अब तुम निर्भय होकर यज्ञ-यागादिक करो, स्वतन्त्र वनों में विचरो, तुम्हें अब कहीं कोई भय नहीं, और जो कुछ कष्ट तुम्हें हो वह कहो । मैं दाशरथी राम विनम

पूर्वक आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।"

रामचन्द्रजी के मुँह से यह सब निकलते ही वे ऋषि-मुनि बने हुए अयोध्यावासी धूल में लोटने लगे, जटाएँ और दाढ़ियाँ नोचने लगे।

भगवान राम की समझ में कुछ न आया। उन्होंने हनुमानजी को पता लगाने के लिए इशारा किया।

हनुमानजी का उधर बढ़ना ही था कि उनमें से बीसियों पुकार उठे—'इस मुए बन्दर को हमारी तरफ क्यों भेजते हो? हुए हुए, महाराज, हमें नहीं पहचानते? हम तो हुजूर की रियायाएँ हैं!'

आज के हस्य और सहस्य शहन्शाओं के पूर्वजों की वाणी—सुनते ही हनुमानजी पीठ मोड़ कर खड़े होगए। लक्ष्मणजी ने कंधे पर से धनुष उतार कर कोने में रख दिया। सीताजी मुँह में अंचल दबाकर मुस्कराने लगीं। रामचन्द्रजी भौंचक्के रह गए! कि तभी उनमें छिपी हुई उम्र का एक जन बाहर आया और तालियाँ फटकार कर कहने लगा—'भए हुए, सरकार हमें भूल गए। याद नहीं आता हमारे हुजूर को? (तालियाँ) हमारे राजा, जब आप यहाँ से नाव में बैठने लगे थे तो सरकार की बड़ी उम्र हो यही तो फर्माया था कि सब नर-नारी वापस अयोध्या चले जाएँ? तनिक सोचिए तो सही, यह हुकुम हम पर कब लागू होता था? हमने सोचा, अयोध्या जाएँ हमारे दुश्मन! हम तो सरकार यहीं बस गए! और क्या हुजूर!

फिर रुआँसा-सा होकर बोला—"सरकार, खुद ही देख लीजिए न कि आपकी प्यारी रियाया की क्या दुर्दशा होगई है?"

राम आखिर भगवान राम ही थे। अपने भक्तों की इस दुर्दशा पर द्रवित हो आए। रुद्ध कंठ से उन्होंने कहा—'प्यारे नगर निवासियो, मैं तुम्हारी भक्ति पर, तुम्हारी आज्ञानुवर्तिता पर, तुम्हारे त्याग और साहस पर बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ। सकोच तजकर कहा—"तुम्हें क्या चाहिए? जो तुम्हें रुचे, वर माँग लो।"

भगवान् राम के इस कथन पर उपस्थित जनता में हलचल मच गई। सोचने लगे क्या माँगा जाय? किसीने कहा जमीन माँगी

"जाओ तुम स्वगण्य सम्मीवदार होगा।" (पृष्ठ ११०)

जाय। लेकिन दूसरे ने प्रतिवाद किया—बिना संग्राम के जमीन को कौन भोगेगा? किसीने सुझाया—हाथी-घोड़े माँगे जाएँ। लेकिन कौम के बड़े-बूढ़ों ने दखल दिया कि हाथी-घोड़ों पर चढ़े फिरोगे तो रोजी कैसे चलेगी? किसीने कहा—धन-दौलत माँगी जाय। मगर फौरन ही विचार उठा कि विनाश ही सही जब प्रकृति ने हमें ऋषि मुनियों का बाना पहना दिया है तो धन-दौलत माँगकर इसकी हेठी तो नहीं ही करानी चाहिए।

अन्त में जाति के मुखिया ने कहा—"मैं वारी जाऊँ सरकार! जब आप आगए तो हमें किस चीज की कमी है? मए हुए, हमें सब-कुछ मिल गया, हुजूर! जान कसम, अब कुछ नहीं चाहिए।

रामचन्द्रजी बोले—"देखो रघुवंशियों के वचन की आन तुम जानते ही हो। जो दे दिया सो दे दिया। अब तो तुम्हें कुछ-न-कुछ माँगना ही पड़ेगा।'

कौम के नेता ने कहा—"जब आप सरकार नहीं मानते, तो हुजूर की जो समझ में आए वह दे डालिए न?"

सारी कौम ने इसका समर्थन किया।

अब राजा राम के असमंजस में पड़ने की बारी थी कि इन्हें क्या दिया जाय? उन्होंने लक्ष्मणजी से पूछा। सुग्रीव और विभीषण से सलाह ली। बूढ़े जामवन्त को भी बुलाया। मगर कोई फैसला एकमत से नहीं हो सका।

भगवान कुछ क्षण के लिए मौन होगए। उन्होंने थोड़ी देर को आँखें मींच लीं और सृष्टि के भूत भविष्यत् एवं वर्तमान पर अपने अन्तर्चक्षु दौड़ाने लगे।

सहसा उन्होंने कुछ निश्चय कर लिया और बोले—"हे तपस्वियो, कलियुग में ईसा की बीसवीं शताब्दी के ४१वें वर्ष में इस आर्यावर्त में पहले आम चुनाव होंगे। हार-जीत का फैसला तुम्हारे कर्मों पर है, जाओ तुम उनमें स्वतन्त्र उम्मीदवार होना।

× × ×

तो भाइयो और बहनो, आज के स्वतन्त्र उम्मीदवार कोई साधारण पुरुष नहीं भगवान राम के आशीर्वाद-प्राप्त विशिष्ट जन हैं। अपनी प्राचीन परम्परा के अनुसार न ये कांग्रेसी हैं, न प्रजा समाजवादी। न संघी हैं, न परिषदी। न अन्वेषकरी हैं, न समाजवादी, न साम्यवादी। न इनका कोई धर्म है न जाति। न इनके कोई विचार हैं न संगठन। इनके धारासभाओं में आने से और कोई लाभ होगा या नहीं यह तो ठीक से नहीं कहा जा सकता, मगर इतना निश्चित है कि धारासभाओं और संसद में बात-बात पर ही नहीं बे बात पर भी तालियाँ बारबार अवश्य बजा करेंगी।